सूर्यकुमारी पुस्तकमाला—२३

तुलसी की जीवन-भूमि
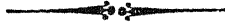
लेखक :

चंद्रबली पांडे
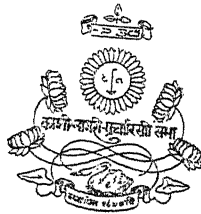
नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

परिचय

जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रांत में खेतड़ी राज्य है। वहाँ के राजा श्री अजीतसिंह जी बहादुर बड़े यशस्वी और विद्याप्रेमी हुए। गणित-शास्त्र में उनकी अद्भुत गति थी। विज्ञान उन्हें बहुत प्रिय था। राजनीति में वह दक्ष और गुणग्राहिता में अद्वितीय थे। दर्शन और अध्यात्म की रुचि उन्हें इतनी थी कि विलायत जाने के पहले और पीछे स्वामी विवेकानंद उनके यहाँ महीनों रहे। स्वामी जी से घंटों शास्त्र-चर्चा हुआ करती। राजपूताने में प्रसिद्ध है कि जयपुर के पुण्यश्लोक महाराज श्री रामसिंह जी को छोड़कर ऐसी सर्वतोमुखी प्रतिभा राजा श्रीअजीतसिंह जी ही में दिखाई दी।

राजा श्री अजीतसिंह जी की रानी आउआ (मारवाड़) चाँपावत जी के गर्भ से तीन संतति हुईं—दो कन्या, एक पुत्र। ज्येष्ठ कन्या श्रीमती सूर्यकुमारी थीं जिनका विवाह शाहपुरा के राजाधिराज सर श्रीनाहरसिंह जी के ज्येष्ठ चिरंजीव और युवराज राजकुमार श्रीउमेदसिंह जी से हुआ। छोटी कन्या श्रीमती चाँदकुँवर का विवाह प्रतापगढ़ के महारावल साहब के युवराज महाराजकुमार श्रीमानसिंह जी से हुआ। तीसरी संतान जयसिंह जी थे जो राजा श्रीअजीतसिंह जी और रानी चाँपावतजी के स्वर्गवास के पीछे खेतड़ी के राजा हुए।

इन तीनों के शुभचिंतकों के लिये तीनों की स्मृति, संचित कर्मों के परिणाम से, दुःखमय हुई। जयसिंह जी का स्वर्गवास सत्रह वर्ष की अवस्था में हुआ। सारी प्रजा, सब शुभचिंतक, संबंधी मित्र और, गुरु-जनों का हृदय आज भी उस आँच से जल ही रहा है। अश्वत्थामा के व्रण की तरह यह घाव कभी भरने का नहीं। ऐसे आशामय जीवन का ऐसा निराशात्मक परिणाम कदाचित् ही हुआ हो। श्रीसूर्यकुमारीजी को एकमात्र भाई के वियोग की ऐसी ठेस लगी कि दो ही तीन वर्ष में उनका शरीरांत हुआ। श्रीचाँदकुँवर बाई जी को वैधव्य की विषम यातना भोगनी पड़ी और भातृ-वियोग और पति-वियोग दोनों का असह्य दुःख वे झेल रही हैं। उनके एकमात्र चिरंजीव प्रतापगढ़ के कुँवर श्री रामसिंहजीसे मातामह राजा श्रीअजीतसिंह जी का कुल प्रजावान् है।

श्रीमती सूर्यकुमारीजी के कोई संतति जीवित न रही। उनके बहुत आग्रह करने पर भी राजकुमार श्रीउमेदसिंह जी ने उनके जीवन-काल में दूसरा विवाह नहीं किया। किंतु उनके वियोग के पीछे, उनके आज्ञानुसार, कृष्णगढ़ में विवाह किया जिससे उनके चिरंजीव वंशांकुर विद्यमान हैं।

श्रीमती सूर्य्यकुमारी जी बहुत शिक्षित थीं। उनका अध्ययन बहुत विस्तृत था। उनका हिंदी का पुस्तकालय परिपूर्ण था। हिंदी इतनी अच्छी लिखती थीं और अक्षर इतने सुंदर होते थे कि देखनेवाले चमत्कृत रह जाते। स्वर्गवास के कुछ समय के पूर्व श्रीमती ने कहा था कि स्वामी विवेकानंद जी के सब ग्रंथों, व्याखानों और लेखों का प्रामाणिक हिंदी अनुवाद मैं छपवाऊँगी। बाल्यकाल से ही स्वामीजीके लेखों और अध्यात्म विशेषतः अद्वैत वेदांत की ओर श्रीमती की रुचि थी। श्रीमती के निर्देशानुसार इसका कार्य्यक्रम बाँधा गया। साथ ही श्रीमती ने यह इच्छा प्रकट की कि इस संबंध में हिंदी में उत्तमोत्तम ग्रंथ के प्रकाशन के लिये एक अक्षय निधि की व्यवस्था का भी सूत्रपात हो जाय। इसका व्यवस्था-पत्र बनते बनते श्रीमती का स्वर्गवास हो गया।

राजकुमार श्री उमेदसिंहजी ने श्रीमती की अंतिम कामना के अनुसार बीस हजार रुपये देकर काशी-नागरी-प्राचारिणी सभा के द्वारा ग्रंथमाला के प्रकाशन की व्यवस्था की। तीस हजार रुपये के सूद से गुरुकुल विश्वविद्यालय, कांगडी में सूर्यकुमारी आर्यभाषा गद्दी (चेयर) की स्थापना की।

पाँच हजार रुपये से उपर्युक्त गुरुकुल में चेयर के साथ ही सूर्यकुमारी निधि की स्थापना कर सूर्यकुमारी-ग्रंथावली के प्रकाशन की व्यवस्था की।

पाँच हजार रुपये दरबार हाई स्कूल शाहपुरा में सूर्यकुमारी-विज्ञान भवन के लिए प्रदान किए।

स्वामी विवेकानंदजी के यावत् निबंधों के अतिरिक्त और भी उत्तमोत्तम ग्रंथ इस ग्रंथमाला में छापे जायँगे और अल्प मूल्य पर सर्वसाधारण के लिये सुलभ होंगे। ग्रंथमाला की बिक्री की आय इसी में लगाई जायगी। यों श्रीमती सूर्यकुमारी तथा श्रीमान् उमेदसिंह जी के पुण्य तथा यश की निरंतर वृद्धि होगी और और हिंदी भाषा का अभ्युदय तथा उसके पाठकों को ज्ञान-लाभ होगा।

निवेदन

गोस्वामी तुलसीदास के अध्ययन की जो परिपाटी विश्वविद्यालयों में चल रही है उसमें उनके जीवन का अध्ययन अनिवार्य हो गया है। फलतः अनेक मनीषी उसकी खोज में लगे हैं। जब-तब यह जन भी इस विषय में कुछ लिखता-पढ़ता रहा है। परंतु सब से विलक्षण बात तो यह है कि जिस ईसा मसीह की ख्याति ही 'चमत्कार' के रूप में है उन्हीं के अनुयायियों की कृपा से हम 'चमत्कार' के कट्टर विरोधी बन गए हैं। इसे विश्व का सब से बड़ा चमत्कार समझिए। स्व० ग्रियर्सन महोदय ने यहाँ की भक्ति में ईसाइयों का हाथ देखा है, किंतु भूल कर भी कभी नहीं देखा है यहाँ के भक्तों के चमत्कार में ईसा मसीह का कुछ योग भी। पता नहीं, इसका कारण है क्या? किंतु जो प्रत्यक्ष और अत्यंत स्फुट है वह है यह कि तुलसी का अध्ययन वस्तुतः ग्रियर्सन के अध्ययन का है भाष्य ही। उनके जीवन-वृत्त को तो निश्चय ही तुलसी की छानबीन नहीं, हाँ, ग्रियर्सन की सूझ-बूझ की छाया समझिए। यह सब कैसे और क्यों हुआ और क्यों हमारा देश इस प्रकार परंपरा से विमुख हो ग्रियर्सन-भक्त बन गया आदि की कथा गूढ़ है। अभी उससे हमारा प्रयोजन क्या? हमारा वक्तव्य तो अभी इतना भर है कि हम ग्रियर्सन के अध्ययन और अध्यवसाय की सराहना करते हैं और अपने आप को उनका ऋणी समझते हैं। परंतु हम समझ नहीं पाते और न कह ही पाते हैं कि सचमुच उनकी लोकाराधना सच्ची और उनकी ज्ञान-पिपासा पक्की थी। नहीं, अध्यात्म के क्षेत्र में तो उनका कुछ और ही रंग दिखाई देता है और उसकी ओट में उनका आधि-भौतिक रूप ही प्रखर होता है। विद्या का प्रयोग किसी व्यापार में कैसे किया जाता है इसका दिव्य और ज्वलंत उदाहरण है 'ग्रियर्सन'। हम किसी 'ग्रियर्सन-गाथा' की मीमांसा में मग्न नहीं होना चाहते। नहीं, हम तो बस इतना भर निवेदन करना चाहते हैं कि यदि उनकी असीम कृपा से हमारी आँख का 'मोतियाबिंद' निकल गया और उसमें पूरी

ज्योति आ गई तो हम अपने अतीत को उनके चश्मे से क्यों देखें? स्वतंत्र हो कर स्वबुद्धि का परिचय क्यों न दें और क्यों न तुलसी का परिशीलन परंपरा के साथ करें ?

कहने की आवश्यकता नहीं कि तुलसी के जीवन-वृत्त का जो विवाद उठा है वह किसी पुराने पोथी-पत्रे के कारण नहीं। पोथी-पत्रों का उदय तो पोषण के हेतु हुआ है। कौन नहीं जानता कि सरकारी कागद-पत्र ही तुलसी को कहीं का नहीं ठहराते और किसी भी स्थान को तुलसी का जन्म-स्थान होकर नहीं रहने देते? फिर भी कितने प्राणी हैं इस देश में जो सचमुच इस ग्रंथि को समझना और समझाना चाहते हैं? न हों। परंतु हमारा नम्र निवेदन है कि अब उधार पांडित्य के दिन गए। अब तो अपनी स्वतंत्र मेधा से काम लेना है न? यहाँ और कुछ नहीं, बस इसी मेधा से काम भर लिया गया है और इसकी छाया में प्रत्यक्ष भर किया गया है कि वस्तुतः तुलसी की वाणी में 'तुलसी की जीवन-भूमि' क्या है। प्रमाण तुलसी से दिये गए हैं अतीत के आँगन में।

जहाँ तक अपना अध्ययन साथ देता है उसके आधार पर यह सरलता से कहा जा सकता है कि सबसे पहले श्री फ्रांसिस बुकानन ने तुलसीदास का परिचय अँगरेजी दुनिया को दिया और उनको काशी का सारस्वत ब्राह्मण बताया। 'पूर्णिया' की पड़ताल में उनको जो पता लगा उसको उसके विवरण में अंकित कर दिया। उनके पश्चात् श्री विलसन महोदय ने जो कुछ लिखा वह प्रचार में जितना आया उतना विचार में नहीं। अँगरेजी भाव-धारा को ठीक से समझने के विचार से जो उद्योग किया गया है वह कहाँ तक ठीक है इसकी जानकारी अँगरेजी के जानकार 'परिशिष्ट' को पढ़ कर स्वयं कर सकते हैं। नागरी के भक्तों के लिए उसका निचोड़ भर दिया गया है।

यह एक विलक्षण बात है कि 'मुगल' के यहाँ कहीं 'तुलसी' का उल्लेख नहीं। तुलसी के प्रति 'फारसी' का यह भाव समझ में नहीं

आता। मुगल-शासन जैसा भी रहा हो पर क्या कहें हम उस 'शासन' को जिसके साहित्य में 'तुलसी' का नाम नहीं। 'महामुनि' की यह उपेक्षा क्यों? हमारी समझ में इसका हेतु है। हमने उस हेतु को समझने का प्रयत्न किया है, और पढ़ा है इस प्रसंग में जो कुछ उसका सार सबके सामने है। हमारा दृढ़ विश्वास है कि इस तथ्य को समझे बिना 'तुलसी की स्थिति को समझ पाना असंभव है। अतः इसको समझने का उद्योग किया है और इसके प्रकाश में 'तुलसी की जीवन-भूमि' का प्रकाशन भी किया है। अच्छा होता यदि यह अध्ययन और गभीर, व्यापक और उदार होता। किंतु इसके लिए तो अभी आगे का समय है और उस समय के उपयोग के लिये इसमें सरकारी सहयोग की सर्वथा अपेक्षा है। शासन का ध्यान इधर गया भी है। आशा है समय पर यह सब कुछ भी हो लेगा। अभी तो प्रचलित विचार-धारा के मोड़ के लिये इतना ही अलं है।

इसके प्रणयन में उस प्रचुर सामग्री का उपयोग नहीं किया गया है जिसका जन्म ही किसी 'हाँ में हाँ' मिलाने के हेतु हुआ है अथवा उस सामग्री का भी सत्कार नहीं किया गया है जिसका प्रणयन कुछ साधने के निमित्त हुआ है। प्राचीन भक्तों ने किसी भाव में आकर जो कुछ लिख दिया है उसको पढ़ने का प्रयत्न किया गया है। उसमें 'समय' की झाँकी मिली है उसकी झलक से इतिहास प्रकाश में आ गया है। मर्मज्ञों को भा गया तो अच्छा ही अन्यथा अध्ययन को मोड़ मिला और उसको कुछ आँख से काम लेने की प्रेरणा मिली यही क्या कम है?

काशी नागरीप्रचारिणी सभा का 'हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास' प्रकाश में आने को है। उसके निर्माण की योजना भी प्रस्तुत हो चुकी है। ऐसी परिस्थिति में इस 'भूमि' का दर्शन अनुचित न समझा गया तो इसका प्रकाशन धन्य हो गया अन्यथा बुद्धि-विलास के रूप में इसका महत्त्व तो है ही। फिर अधिक चिंता क्यों?

हमें संतोष है यह देखकर कि हमने तुलसी के जन्म-स्थान की जो जिज्ञासा आज से कई वर्ष पहले की थी वह हमारे अध्ययन से प्रतिदिन पुष्ट होती जा रही है। सत्य क्या है ? कौन कहे ? परंतु प्रमाण पुकार कर कहते हैं कि वस्तुतः वस्तु-स्थिति उसी के अनुकूल है। आगे विद्वानों का विचार जाने।

इस पुस्तक के बन जाने में बहुतों का हाथ है। ऋणी सबका पर कृतज्ञ किस किस का बना जाय ? आभार की कभी सच्ची गणना हो भी सकती है ? फिर भी अपने संतोष के लिये इतना निवेदन तो कर ही देना है कि 'सोरों' के लिये श्री रामदत्त भारद्वाज, 'राजापुर' के लिये श्री रामबहोरी शुक्ल तथा 'सूकरखेत' के लिये श्री भगवतीप्रसाद सिंह जी ने विशेष सहायता की। लेख से ही नहीं अन्य सामग्री से भी। इनके अतिरिक्त 'भारत-कलाभवन' के श्री परमेश्वरी लाल गुप्त ने भी 'शंभु-संग्रह' के अनुशीलन में पूरा योग दिया और किसी प्रकार के योग से विमुख न रहे। 'आर्यभाषा पुस्तकालय' और 'काशी विश्वविद्यालय पुस्तकालय' तो अपनी आँख ही ठहरे। उनके कर्मियों की भरपूर सहायता में कभी कमी नहीं पड़ती, अतः उनका आभार तो है ही।

अंत में नाम ले लेना है श्री उदयशंकर शास्त्री का जिनके उद्योग और उत्साह से इस जन को बल मिला और प्रणयन के कार्य की बाधा दूर हुई। उन्हीं के साथ 'नागरी-मुद्रण' के लोग भी उल्लेख के योग्य हैं जिनकी तत्परता से पुस्तक समय पर प्रकाश में आ गई।

श्री पद्मा मिश्रा के विषय में कुछ लिखने में भी संकोच होता है। श्री ज्ञानवती त्रिवेदी का योग भी सदा की भाँति इसमें भी है ही।

नागरीप्रचारिणी सभा के प्रबंधकों का संकेत भर पर्याप्त है। हाँ, इतना कहना रह ही गया कि इस पुस्तक के निर्माण की आधार-शिला है स्व० रामदीन सिंह जी की लगन जो उनके प्रकाशित 'रामचरितमानस' के आरंभ में कहीं भी सरलता से गोचर हो जाती है।

पुस्तक के दोष अपने, गुण पंच के हैं। अधिक क्या ?

तुलसी-जयंती
सं० २०११ वि०

चंद्रबली पांडे
बनारस ५

विषय-सूची

तुलसी-स्तवन

जै जै श्री तुलसी की वानी ।
बिसद बिचित्र चित्र पद मंडित भक्ति मुक्ति बरदानी ॥
लीन्हो वेद पुरान शास्त्र मत मुनि जन ललित कहानी ।
ज्ञान बिराग ब्रह्म सुख जननी करम धरम नय सानी ॥
उदित भई जा दिन ते जग मैं तब तें बुधन बखानी ।
अखिल अवनि मंडल परिपूरित को अस जो नहिं जानी ॥
प्रगटी राम चरन रति जहँ तहँ भूरि विमुखता भानी ।
'रामगुलाम' सुनत गावत हिय आवत सारंग पानी ॥

× × ×

जयति जय जयति तुलसीस बानी ।
कविन सुखदायनी भाव अंगन भरी छरी भव सूल रस चाव खानी ॥
पढ़त जेहि होत नर राममारग निरत लही जग जाचना आस हानी ।
लोक परलोक सुख देति निज जनन की ताप हरि लेत आनंद खानी ॥
पंच ऊपासना भाव चारौ भरी खरी सब भांति वेदन पुरानी ।
अंग मानस लिए सरजू मल भाव हिये दिए जगजीव के अभय जानी ॥
कहां लौं कहै कबि देखि तेहि बरन छबि रही रस जगत आनंद सानी ।
'द्विज बंदन' हिये बसै सकल प्रान जहां बसै खसै नाहिं कभी यह नेम ठानी ॥

× × ×

पदरज श्री तुलसी की पावनि ।
भवसागर को पोत सुभग भइ सब दुख दोष नसावनि ॥
चरन कमल सोभा सुबास जहँ रस अरुनाई भावनि ।
अमी मूर चूरन जन मन के भव रुज बेगि मिटावनि ॥

सुकृत संभु तन जन विभूति सम सोहति सब अघ दावनि ।
मंजुल मंगल मोद प्रगट की जनु जननी प्रगटावनि
किए तिलक गुन बसि करि राखति बहु बिधि हिय हुलसावनि ।
मनहु सुअंजन अंजन दृग को राघो चरित लखावनि
'रामायन' जन बंदत पुनि पुनि सोइ मम ताप बुझावनि ॥

× × ×

बेद को विधान लए पूरन पुरान मत,
मानत प्रमान साधु सिद्धि सब ठांई के ।
प्रेम रस भीने पद परम नवीने कहि
दीने है अखेद कवि भेद जहँ तांई के ।
दया दरसावै बरसावै प्रेम पूरो जल,
हियौ हुलसावै जौन पाहन के नांई के ।
स्वामी के चरित और बापुरो बखानै कौन ?
वृष्टि यह बाँटे परी तुलसी गोसांई के ॥

× × ×

निगमागमसार श्रृंगार सब ग्रंथन को,
पियो है पुराण सबै जैसे वक्ष माई के ।
रस को श्रृंगार सार संत उर हार लसै,
कीन्ह्यौ है अहार ज्ञानी सदा सुखदाई के ।
सिंधु जग जहाज औ सोपान रामधाम के,
दशधा के साज सज्यौ मिलै हेतु सांई के ।
'रामचरण' रामकथा कीन्ह्यौ है बखान सबै,
रामरस बाँटे पर्‍यो तुलसी गोसांई के ॥

वेद मत सोधि सोधि बोध के पुरान सबै,
संत औ असंतन को भेद को बतावतो ?
कपटी कुराही कूर कलि के कुचाली जीव,
कौन राम नाम हूँ की चरचा चलावतो ?
'बेनी' कबि कहै मानो मानो हो प्रतीति यह,
पाहन हिये में कौन प्रेम उमगावतो ?
भारी भवसागर उतारतो कवन पार ?
जो पै यह रामायण तुलसी न गावतो ॥

× × ×

रहु रे कलंकी कलि कपटी कुचाली मूढ़ !
भागु भागु नातो गहि पटकि पछारोंगो ।
तुलसी गुसांई जू के काब्य के किला सों काढ़ि,
दोहरा दुनाली सी बंदूकन सों मारोंगो ।
कबि 'अंबादत्त' सोरठा के सैफ साफ करि
छंदन के छर्रा सों गरब गहि गारोंगो ।
चारु चउपाइन के चोखे चोखे चाकू लेइ,
आजु तोहि टूक टूक काटि काटि डारोंगो ॥

× × ×

मन अनुमानै हेरि मंजुता मनोहर को,
लखि मधुराई होत ध्यान अस ही को है ।
कोमलता परखि बिचार मति ऐसो करै,
देखि जन प्रियता जनात यह जी को है ।
'हरिऔध' निरखि निपट निकलंकताई,
कहत हरेक नीतिमान अवनी को है

जैसोई रुचिर चारु चरित सियापति को,
तैसोई कलित कल काव्य तुलसी को है ॥

× × ×

अब लौं सब नेम धर्म संजम सिराय जाते,
माता पिता बालक को वेद न पढ़ावते ।
आमिष अहारी बिभचारी होते भारी लोग,
कोऊ रघुनाथ जू की चरचा न चलावते ।
छूटि जाते नेम धर्म आश्रम के चारो बर्न,
ऐसे कलिकाल में कराल दुख पावते ।
होते सब कुचाली सो सुचाली भनै 'महाराज',
जो पै कवि तुलसीदास भाषा न बनावते ॥

× × ×

उपमा अनेक धुनि भाव रस उक्ति जुक्ति,
छंद औ प्रबंध सनबंध सिख देस काल ।
ज्ञान योग भक्ति अनुराग औ बिराग बिनै,
नीति परतीति प्रीति रीति भीति जगजाल ।
लोक गति वेद गति चित्र गति पर गति
ईस गति जति राम रति तति सति हाल ।
तुलसी जू एते गायो रामायन 'रघुराज',
बरबस कीन्हो निज बस दसरथ लाल ॥

× × ×

यह खानि चतुष्फल की सुखदानि अनूपम आनि हिये हुलसी ।
पुनि संतन के मन भृंगन को अति मंजुल माल लसी तुलसी ।
पुनि मानुष के तरिबे कहँ 'तोष' भई भवसागर के पुल सी ।
सब कामन दायक कामदुहा सम रामकथा बरनी तुलसी ॥

तुलसी की जीवन-भूमि

१—श्री गोसाँई-चरित्र का महत्त्व

गोस्वामी तुलसीदास जी के जीवन के अध्ययन में हम इतने अंधे रहे हैं कि हमने उस चरित्र के मर्म पर ही अबतक कोई ध्यान नहीं दिया जिसे हम तुलसी-चरित की आँख का अंजन कह सकते हैं। और यदि हममें से किसीखोजी की दृष्टि उधर गई भी तो उसको बस इतना भर उसमें दिखाई दिया कि हम उसे बाबा 'बेनीमाधव दास' के 'गोसाँई चरित' के साथ देख सकें। रही कुछ उसके सहारे आगे बढ़ने की बात। सो उसके विषय में उसका संक्षिप्त निवेदन है—

उपोद्घात

११—प्रश्न अब यह है कि इस जीवन-चरित्र को कहाँ तक प्रामाणिक माना जा सकता है। जब हम इस चरित्र को पढ़ते हैं तो देखते हैं कि यद्यपि इसमें कवि के समकालीन अनेक ऐतिहासिक व्यक्तियों और उनसे संबंध रखनेवाली घटनाओं का उल्लेख होता है, परंतु उन व्यक्तियों के संबंध में और उनसे संबंध रखनेवाली घटनाओं के संबंध में हमें वह आवश्यक विस्तार नहीं मिलता है जिसकी सहायता से उनकी ऐतिहासिकता की जाँच की जा सके। और, तिथियाँ तो हमें चरित्र भर में नहीं दिखलाई पड़तीं। ऐसी अवस्था में यह 'गोसाँई-

चरित्र'—और अतएव कदाचित् वह 'गोसाईं-चरित्र' भी कवि के प्रामाणिक जीवन-वृत्ति के पुनर्निर्माण में हमारा कहाँतक सहायक हो सकता है यह प्रकट है।

फिर भी हताश होने का कोई कारण नहीं। कारण आप ही का तो कहना है इसी के आगे इतना और भी—

१२—किंतु यह बात विस्मृत नहीं की जा सकती कि इसमें उल्लिखित वे समस्त व्यक्ति जिनके विषय में हमें कुछ भी ज्ञात है, तुलसीदास जी के समकालीन ठहरते हैं। केवल एक उल्लेख ऐसा है जो इस विषय में अपवाद प्रतीत होता है, वह है गंग के विषय का। 'गंग कवीश्वर प्रसंग' में इसमें कहा गया है कि कवि के जीवन-काल में ही गंग की एक रचना से रुष्ट होकर बादशाह ने उसे मरवा डाला। किंतु गंग को औरंगजेब ने हाथी से कुचलवाया था। और उसका शासन-काल सं० १७१२ से प्रारंभ होता है। इससे अनुमान होता है कि यह "चरित्र' अधिकांश में अपने रचनाकाल से पूर्व की अनुश्रुतियों के आधार पर लिखा गया है।

[तुलसीदास, तृ० सं०, पृष्ठ ४४]

यह है गोस्वामी तुलसीदास के प्रसिद्ध खोजी डा० माताप्रसाद गुप्त जी का मत उस 'गोसाईं-चरित्र' के विषय में जिसके आधार पर आगे हम बहुत कुछ कहना चाहते हैं।

गंग-प्रसंग

अतएव सबसे पहले हमें इस गंग-प्रसंग को ही लेना चाहिए और ध्यान से देखना यह चाहिए कि वस्तुतः वस्तुस्थिति के प्रकाशन में यह कहाँ तक समर्थ और कुशल है। सो संयोगवश एक दूसरे डाक्टर का कथन है—

अतएव अब प्रश्न यह है कि किसी राजाज्ञा द्वारा इन्हें हाथी का शिकार बनना पड़ा अथवा संयोगवश किसी मतवाले हाथी के चपेट में

ये आ गये। कवि द्वारा कथित छंदों से स्पष्ट होता है कि जहाँगीर का विरोध उसने कई बार किया था। जहाँगीर के क्रूरता के कई उदाहरण इतिहास के पृष्ठों में मिलते हैं। जहाँगीर निरपराध व्यक्तियों को भी प्राणदंड दे डालने में संकोच नहीं करता था। वह अपने मनोरंजन के लिए मनुष्यों को हाथी और शेर से लड़वाया करता था। 'तुज़ुक जहाँगीरी' में इस प्रकार की घटनाओं के उल्लेख आये हैं। उस काल में प्राणदंड पाये हुए व्यक्तियों को मस्त हाथी के संमुख छोड़ दिया जाता था और हाथी उन्हें पकड़ कर चीर डालता था। यह रीति केवल जहाँगीर के शासन-काल ही में न थी वरन् अधिकांश मुगल शासकों द्वारा मृत्यु-दंड का यही ढंग था।

इतना नहीं अपितु उसी क्रम में—

कवि की रचनाओं से पता चलता है कि वह आरंभिक अवस्था में सलीम के अनुकूल था। उसने राज्यसिंहासनस्थ जहाँगीर तथा युवराज सलीम (जहाँगीर) दोनों की प्रशंसा की है। अकबर के राजत्व-काल में ही कवि सलीम की ओर झुक गया था—

हाथी चाहै साल बन साँप चाहै माथै मनि
पानी को प्रवाह जैसे चाहै बेली पान की।
संजोगिनी रैन चाहै जोगी जैसे जोग चाहै
आतुर नायक चाहै जैसे नित मान की।
चंदहि चकोर चाहै पिक घनघोर चाहै
चकई चकोर जैसे चाहै भेट भान की।
हंस चाहै मानसर मोर चाहै मेघ झर
गंग चाहै नजर सलेम सुलतान की।

जहाँगीर

अकबर की मृत्यु के पश्चात् सलीम जहाँगीर के नाम से सिंहासनारूढ़ हुआ। इस समय कवि के जहाँगीर की प्रशंसा में कहे हुए छंदों से स्पष्ट होता है कि वह अपने जीवन का अंतिम समय जहाँगीर की छत्रछाया में व्यतीत कर रहा था। बहुत काल तक जहाँगीर की दृष्टि कवि की ओर कृपापूर्ण रही थी। इसका आभास कवि-रचित जहाँगीर की प्रशंसा के छंदों से लग जाता है—

दलहिं चलत हलहलत भूमि जल थल जिमि चलदल।
पल पल खल खल भलत विकल बाला कर कुल कल॥
जिव पट्टहिं ध्वनि युद्ध धुंधुं धुद्धुव धुद्धुव हुव।
अरर अरर फटि दरकि गिरत धस मसति धुकनि ध्रुव॥
भनि गंग प्रबल महि चलत दल जहाँगीर तुव भार तल।
फुं फुं फरिंद फुंकरत सहस गाल उगिलत गरल॥

उक्त छंद में जहाँगीर की सेना के आतंक का भी कवि ने वर्णन कर दिया है।

[अकबरी दरबार के हिंदी-कवि, पृष्ठ १२५–६]

डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल के इस विवेचन के सामने क्या डा० माताप्रसाद गुप्त का उक्त मत क्षण भर भी टहर सकता है? तो भी स्थिति अभी मुँह खोलने को खड़ी है और उसी की चिंता में उक्त डा० अग्रवाल का यह अनुसंधान है—

जब खुर्रम को आश्विन सुदी १३, संवत् १६७४ में शाहजहाँ की उपाधि मिली तो दरबार के कई प्रतिभाशाली व्यक्ति उसकी ओर आकृष्ट हो गये क्योंकि जहाँगीर अपने क्रूर स्वभाव और विलासप्रियता के कारण अधिकांश लोगों का घृणापात्र बन चुका था। राजनीतिक मामलों में वह नूरजहाँ के हाथों की कठपुतली होने के कारण उचित न्याय करने में असमर्थ रहता था। लोग नये युवराज से सुंदरतर शासन की आशा

कर रहे थे। अतः वे अकारण ही शाहजहाँ की प्रशंसा करने लगे। गंग ने भी ऐसा ही किया। उन्होंने युवराज शाहजहाँ की प्रशंसा इस कारण की थी—

नाउ लिए घर ते निकस्यो कवि गंग कहै साहखान तिहारो।
आइके देख्यो है कल्पतरू अरु कामदुधा मनि चिंतामनि भारो।
आज हमारी भई परिपूरन आस सबै कबहूँ नहिं वारो।
लोभ गयो सिगरो चित ते अब ये गयो दारिद छेदन वारो॥

दरबारी व्यक्तियों की इस प्रवृत्ति का आभास नूरजहाँ को भी मिला। शाहजहाँ के पोषक व्यक्तियों से वह स्वार्थवश शत्रुभावना रखने

नूरजहाँ

लगी यद्यपि स्पष्ट रूप से अभी वह उनका प्रतिकार करना उचित नहीं समझती थी। गंग की भी नूरजहाँ के प्रति कोई विशेष श्रद्धा ज्ञात नहीं होती क्योंकि नूरजहाँ की प्रशंसा में उसका रचा एक भी छंद नहीं मिलता है। राज्य की साम्राज्ञी की प्रशंसा उसी के दरबार का कवि न करे यह एक प्रकार का अपराध ही था। किंतु कवि के जीवन का दुःखमय समय तो तब आया जब नूरजहाँ के एक संबंधी जैनखाँ ने कवि गंग के इकनौर गाँव के जुनारदारों पर आक्रमण किया तथा क्रूर भाव से उनका विध्वंस किया। इस परिस्थिति ने कवि के हृदय में विप्लव की भावना उत्पन्न कर दी। बात उचित ही थी—जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी। कवि ने निर्भीकता से राज्य के इस क्रूर कार्य की कटु आलोचना की।

[वही पृष्ठ १२७]

अधिक से लाभ क्या? डा० अग्रवाल के विवेचन का निष्कर्ष निकला—

इस प्रकार स्वयं कवि के छंदों तथा अन्य परवर्ती कवियों की उक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनखाँ ने इकनौर के ब्राह्मणों को

मरवाया था और कवि ने उस कृत्य की निंदा खुले रूप में की थी। गंग के ये छंद जब नूरजहाँ के कानों पड़े तो उसके हृदय में प्रतिशोध की भावना जाग्रत हो उठी। फलस्वरूप दरबार के प्रसिद्ध कवि गंग को जहाँगीर ने हाथी से कुचले जाने की आज्ञा दी।

[वही, पृष्ठ १२६]

डा० माताप्रसाद गुप्त जी के आक्षेप का समाधान तो सभी प्रकार से हो गया और पाठकों ने भली भाँति देख लिया कि वास्तव में उक्त चरित में दोष नहीं दोष

वस्तुस्थिति

डा० गुप्त जी की दृष्टि में ही है। परंतु हमारा मन इतने से भरा नहीं। हम तो और भी खुल कर बताना चाहते हैं कि वास्तव में वस्तुस्थिति क्या है। सो उक्त 'चरित्र' का 'कविगंग कवेस्वर प्रसंग' है—

इक समै गोसांई जन दयाल। करै जाप लिये कर तुलसि माल ॥
पठि कवित आइ तिन भेट कीन। कवि गंग कवेस्वर गर्व लीन ॥
अपमान भजन कर करी गाथ। गज तुलसि माल कब धरी हाथ ॥
तब कह्यो गोसांई सहज सुभाई असमत हम से मति मानो।
हम को अवलंब अधार यही वह हाथी जनै तुम जानौ ॥

इमि गुरजन अपमान हस्तिनापुर सोई गायौ।
पातिसाह सों भेटि काव्य कीन्ही कछु लायौ ॥
भाख्यौ कछुक अजोग्य पाठि राज्ञी उर आयौ।
बेगम करि अति क्रोध तुरत गज तरे देवायौ ॥
अपमान संत जिन को कर्‌यो निंद्या सुमिरन भजन किय।
श्रुति संतपाल नहि सह्यो जन बचन लागि फल बेगि दिय ॥

[श्री स्वामी गोसांई तुलसीदास जू को चरित्र, पृ० १२१]

'संत' वा 'गुरुजन' के 'अपमान' का फल मिला 'राज्ञी' वा 'बेगम' से कवि गंग को। यही तो इसका भाव है? अच्छा तो इसका आधार है—

पढ़्यो गुन्यो कीर न कुलीन हुतो हंस कुल,
छुयो गीध छुति हातो छाती छापे किए तो।
तार्‌यो अजामेल हू से परम मलीन पापी,
सदा को सुरापी चरनोदक न पिए तो।
गंगु कहे तारि केते त्रास में मुक्त कियो,
कालीनाग कहाँ ते तिलक मुद्रा दिए तो।
दौरे हरि लोग तें हकार एक पायक यों,
हाथी कहा हाथ तुलसी की माला लिए तो ॥८५॥

'तुलसी की माला' की फबती हाथ लगी तो हाथी का दंड विधान भी स्यात् यहीं खुल जाता है। कवि गंग के 'नूर' को समझ तो लीजिए। कहते हैं—

कुपात्र की प्रीति हू कहा खादि बिन खेत जैसे,
प्रीति बिन मित्र वाकू चितहू न आनिये।
मति बिना मर्द और नूर बिन नारी कहा,
अर्थ बिना कवि वाकूँ पशु ज्यों प्रमानिये।
तोपें बिना फौज कहाँ हस्ती बिन हौदा जैसे,
द्रव्य बिन देवे दान देव कर मानिये।
कहै कवि गंग सुनो साहिन के साहि सूरा,
आदमी को तोल एक बोल में पिछानिये ॥ ९५ ॥

[अकबरी दरबार पृ० ४३१ तथा ४३३ से उद्धृत]

शाहंशाह सुरापी जहाँगीर को 'मति बिना मर्द' की बात भले ही न लगी हो पर सजग नूरजहाँ पर 'नूर बिन नारी कहा'

का वज्रपात होकर रहा होगा। और यह वह समय था जब बेगम नूरजहाँ क्या नहीं कर सकती थी! निदान उक्त 'चरित्र' का वचन है—

बेगम करि अति क्रोध तुरत गज तरे देवायौ।

माफी की अवज्ञा

तात्पर्य यह कि जिसे यहूदियों ने निकम्मा समझा वही कोने का पत्थर हुआ और फलतः यह 'गंग कवीश्वर प्रसंग' डा० गुप्त जी की धारणा के सर्वथा विपरीत कितना सटीक सिद्ध हुआ! इतना ही नहीं, ठीक इसी के बाद का 'पातसाह संवाद' तो और भी पते का निकला। देखिए, वहीं कहा जाता है—

ताहि समै दिल्ली सुलताना। लागि जो लियौ हुतो बरदाना ॥ १ ॥
दरस हेत आयौ सचु पायौ। अति भेटा आदर सिरु नायौ ॥ २ ॥
दीन बचन मृदु बानी भाखी। वह संपदा बिहित तिन राखी ॥ ३ ॥

नगर बनारस को चहिय, लिखि कागज पर दाम।
अंगिकार प्रभु कीजिये, आवै दासन काम ॥ १ ॥

कह्यो कि मैं तुम पै प्रथम, कही हुती जो बात।
सत्य सबै सोइ जानियै, यामें पाँच न सात ॥ २ ॥

अर्ब खर्ब लौ द्रव्य है, उदै अस्त लौ राज।
तुलसी जो निजु मरन है, तौ सब कौने काज ॥ ३ ॥

[चरित्र, पृष्ठ १२२]

फिर भी आज तो बड़ी तत्परता से तुलसीदास राजापुर के माफीदार बताए जा रहे हैं। आगे आगे देखिए होता है क्या? का अच्छा अवसर हाथ लगा है! तो भी इतना तो समझ रखिए कि इस 'चरित्र' के कथनानुसार—

अंगीकार न जब कछु देखो, अरु निज जोग्य न आदर लेखो ॥१॥
मन अनुमानि पूछ तब ताता, सूरदास प्रभाव किमि ताता ॥२॥
कह प्रभु सूर विदित जग जाना, परम भागवत ज्ञान निधाना ॥३॥
तब कहि मम पितु निकट नेवाजी, चौदह रतन ज्ञान गुन राजी ॥४॥
एक ते एक प्रवीन उजागर, सब पंडित गुनज्ञ गुन सागर ॥५॥

टोडर मल्ल अरु बीरबल, खान खान गुन पूर।
नरहरि अहमद आदि दै, अरु गुन सागर सूर ॥ १ ॥

कह्यो गोसाईं सुनु नरनाहा, ये चौदह जो रतन सराहा ॥ १ ॥
रतन एक सूरहि को जानो, और सबन कह सीप बखानो ॥ २ ॥
महिमा सुनी सूर की जबही, औसर पाइ कह्यो पुनि तबही ॥ ३ ॥
ते तौ तिनहिं अनुग्रह करते, हम ग्रह आइ चरन नित धरते ॥ ४ ॥
यहि मिस जनु निज हेत जनायौ, सो हौ इहाँ न आदर पायौ ॥ ५ ॥

कह्यौ गोसांई सुनहु तुम, जात जो तव ग्रह सूर।
ताते ते नहि घटि गये, नैनन नाहिं विधु दूर ॥ १ ॥

[वही, पृष्ठ १२२]

दरबार से दूर क्यों सूर कभी अकबरी दरबार के रत्न थे ऐसा इससे भासता है। परंतु तुलसी सदा उससे दूर रहे यह भी यहीं प्रत्यक्ष हो जाता है। आगे का कथन है—

याको भेद सुनहु तुम सोई, यामे पच्छपात नहिं कोई।
सोम वंस के सूर उपासक, ताते ते निज दृष्टि प्रकासक।
जोरे दिष्टि चंद सो जोई, ओति वृद्धि ताकी पर होई।
सबै ठौर चितवै चितु लावै, जहाँ जाइ तह द्रिष्टि देखावै।
हम तो भानुवंस के चेरे, और न सूझै तिन तन हेरे।
तेज रासि पुनि चितवै जोई, फिरि न द्रिष्टि तर आवत कोई।

ताही ते मोहि दिष्टि तर, नहिं आवत कोउ आन ।
और कछू देखत नहीं, जो देखे तो भान ॥

[वही, पृष्ठ १२२-३]

बादशाह झोंक में था। निदान हुआ यह कि पाँव पलोटने लगा और तुलसी का हाथ उठा तो—

पाइकै सरीर धर्म बर्न एक भो कराल ।
भेष जौ करै न तासु दुःख सो सहै विसाल ॥
दिष्टि साह के पर्‌यो जो हाथ जोरि कै विनीत ।
नाथ हौं विनै करौं सो मान लीजिए सुनीत ॥
बैद एक एक ते बड़े गुनी फिरंगि आदि ।
नाथ जो निदेश होइ आइ कै हरै बियाधि ॥
ब्याधि है न रोग है कही गोसांई व्रन घाइ ।
हौं गुलाम राम के विमुख भये लहौं सजाइ ॥

[वही, पृष्ठ १२३]

जहाँगीर के प्रसंग को अधिक बढ़ाने की आवश्यकता नहीं।

सद्यः मुक्ति

कवि तिथि का नहीं भाव का भूखा और समय का पारखी है। अतः एक ऐसा प्रसंग सामने आता है जिसके उपरांत कवि को और कुछ कहना शेष नहीं। लीजिए, वह प्रसंग है—

विप्र एक हठ परो मोहि हरि दरस करावौ ।
जा बिधि हरि सो मिलो वेगि सोइ जोग बतावौ ।
बहु उपासना रीति कही प्रभु नेकु न मानो ।
कही आजु ही लह्यौ दरस सोइ जुगत बखानौ ।
जब प्रति उत्तर बहुतै कियौ तबै विषै प्रभु इमि कह्यौ ।
त्रयसूल भाल करि बृच्छ चढ़ि गिर जो तुरत चाहत लह्यौ ॥

[वही, पृष्ठ १२९]

प्रसंग महत्त्व का है अतः ध्यान से इसका भाव पढ़ें। इसी के आगे कहते हैं—

जै सोई प्रन कीन गाड़ि सु त्रिसूल चढ़ो तरु।
ता पर चाह्यो गिरन तबै तेहि डर व्यापो उर।
लोभ जीव को कियौ बहुरि उतरो तुरिवर ते।
चढ़ि पुनि करि अनुमान टरो नहि अब गिरिवर ते।
द्वै तीन बार यहि बिधि कियौ चढ़ि भय बस नहिं गिर सकौ।
मनसूर नाउ नावै जो कहु जात हुतो कौतुक तकौ॥

समाचार लहि लोग द्रव्य को लालच दीन्हों।
बिदा कियौ सो बिप्र मोल लै सुकृत प्रवीनो।
चढ़ो गोसांइहिं सुमिरि हिये रघुबर को धार्‍यौ।
गिरो सो तरु ते तुरत नाम रघुनाथ उचार्‍यौ।
तब तिहिं करुना कर बीचही पावन करि लियौ लाय हिय।
अपनाइ दास करि हिये भरि राम रूप ह्वै दरस दिय॥

[वही, पृष्ठ १२९]

इतिहास का लोप

'मनसूर' नाम कुछ क्यों कर कह सकता है? हम अपने अतीत का अध्ययन अपनी आँख से कर कहाँ रहे हैं? करें भी कैसे? यह प्रसंग तो राजा रघुराज सिंह के समय में कुछ और ही बन गया था। तभी तो आपका निवेदन है—

आयो एक वणिक पुनि कोऊ। रामदरश लालस किय सोऊ।
तुलसिदास सों विनय सुनायो। श्री रघुवीर दरस चित चायो।
तुलसिदास तब कह मुसकाई। यह तौ बात महा कठिनाई।
सहजहि रामदरश नहिं होई। कोटिन जन्म जात है खोई।
वणिक कह्यो है कौन उपाई। तुलसिदास तब कह्यो बुझाई।

बरछी गाड़ि भूमि महँ देहू। ता पर कूदहु तजि तनु नेहू।
यहि बिधि दरश होय तौ होई। और यतन कछु परै न जोई।
वणिक कह्यो यह तौ न असति है। तुलसिदास कह सति सति सति है।
वणिक गाड़ि बरछी महि माहीं। चढ्यो जाय तरु कूदन काहीं।
मरन भीति कूद्यो नहिं जाई। बनिया बार बार पछताई।

कोउ क्षत्री तेहि पंथ है, लख्यो तमाशो जाय।
कह्यो वणिक सों काह यह, वैश्य गयो सब गाय॥ ३४॥

क्षत्री कह्यो उतरि तुम आवहु। कौन हेतु तनु वृथा गँवावहु।
मो सों लेहु कछुक धन भाई। करहु जाय रोजगार बनाई।
वणिक मानि क्षत्री के बयना। लै धन तुरत गयो निज अयना।
क्षत्री लियो मनहिं अनुमानी। मृषा न तुलसिदास की बानी।
तरु पर चढ़ि कूद्यो बरछी पर। उपरहिं रोकि लियो तेहि रघुबर।
बजे नगर दुंदुभी अपारा। भयो सुयश सिगरे संसारा।
तामें प्रमाण गोसांई जी की। मैं लिखि देहौं सोई नीकी।
कौनिहुँ सिद्धि कि बिन विश्वासा। बिन हरिभजन न भवभय नासा।

[भक्तमाला, पृष्ठ ७९५–६]

'अनुश्रुति' का आधार एक ही है पर घटना की स्थिति में भेद है। राजा रघुराज सिंह तो स्पष्ट ही 'नगर' का उल्लेख करते हैं—

दिय कपीश द्विज पुत्र जियाई। सकल अवधपुर बजी बधाई।
तुलसिदास अति आनंद पायो। तहाँ बसत कछु काल बितायो।
आयो एक वणिक पुनि कोऊ। रामदरश लालस किय सोऊ।

परंतु उक्त 'चरित्र' में घटना-स्थल का स्पष्ट उल्लेख नहीं।

[वही, पृष्ठ ७९५]

प्रसंग से वह 'हस्तिनापुर' की ओर का ठहरता है। जो हो, निवेदन यह करना था कि 'ब्राह्मण' का स्थान 'वणिक' को और

मनसूर' का स्थान जो 'छत्री' को मिल गया उससे इतिहास बहुत कुछ मूक हो गया नहीं तो वास्तव में वस्तुस्थिति तो यह थी—

पूरब के विद्रोह से काबुल के शासक तथा अकबर के भाई मुहम्मद का आक्रमण अधिक खतरनाक था। पूरब के विद्रोहियों ने मिर्जा हकीम को उसके धर्म के विरुद्ध आचरण करनेवाले भाई के स्थान पर हिंदुस्तान का बादशाह बनाने का इरादा जाहिर किया था। इससे उसके मन में हिंदुस्तान का तख्त हासिल करने की आशा फिर उदय हुई। अकबर को हकीम के मनोरथ का हाल मालूम था; लेकिन उसने भाई समझ कर पहले इस बात पर ध्यान न दिया। बंगाल के विद्रोहियों के अतिरिक्त दिल्ली दरबार के कुछ अफसरों ने भी मिर्जा हकीम को सहायता देने का वचन दिया था, जिनमें साम्राज्य का दीवान ख्वाजा मंसूर भी था।

[भारत का इतिहास ,भाग ३, पृष्ठ, ७०-७१]

मंसूर की पहचान

'ख्वाजा मंसूर' ही 'चरित्र' के 'मनसूर' हैं वा नहीं इसकी यथार्थ जानकारी के लिए इतना और भी स्मरण रहे कि—

मिर्जा के बढ़ने की खबर सुनकर अकबर ने अनिच्छापूर्वक उसके विरुद्ध प्रस्थान करने का निश्चय किया। उसने एक बड़ी सेना इकट्ठी की जिसमें ५०,००० सवार, ५०० हाथी और असंख्य पैदल सिपाही थे। उसने ख्वाजा मंसूर को भी साथ ले लिया जिसमें वह षडयन्त्र में भाग न ले सके और शाहजादे सलीम और मुराद भी साथ ही थे। जब यह सेना पानीपत पहुँची तो मिर्जा हकीम का सेवक मलिक सानी काबुली शाही पड़ाव में आया और ख्वाजा के साथ ठहरा और उसे मध्यस्थ बना कर अपने स्वामी के विरुद्ध बादशाह से राय करने लगा। इससे ख्वाजा के विरुद्ध बादशाह का संदेह और दृढ़ हो गया। ख्वाजा के विरुद्ध फिर कुछ चिट्ठियाँ मिलीं जिससे उसके अपराध के

विषय में बादशाह को संदेह नहीं रह गया। उसने बिना अधिक तहकीकात के ख्वाजा को एक पेड़ से लटकवा कर फाँसी दिला दी, जिससे उससे विद्वेष तथा शत्रुता रखनेवाले राज्य के और कर्मचारियों को बड़ी प्रसन्नता हुई।

[वही, पृष्ठ ७१-२]

कहने की आवश्यकता नहीं कि यही 'ख्वाजा मंसूर' तुलसी का अनुगामी 'मनसूर' है। इसके संबंध में इतना और भी ज्ञात रहे कि—

ख्वाजा मंसूर के प्राणदंड के विषय में एक और बात कह देनी ठीक होगी। उसे दंड देने में बहुत जल्दी की गई। चिट्ठियों की ठीक-ठीक जाँच नहीं की गई। निजामुद्दीन कहता है कि आखीर में मिलनेवाली जिन चिट्ठियों के आधार पर ख्वाजा के भाग्य का निपटारा हुआ, निस्संदेह जाली थीं। निजामुद्दीन जो पड़ाव में उपस्थित था, कहता है कि सम्राट ने ख्वाजा के प्राणदंड पर पीछे से पश्चाताप प्रकट किया। डाक्टर स्मिथ मानसिंह द्वारा भेजी गई चिट्ठियों के आधार पर ख्वाजा को दोषी ठहराते हैं। किंतु अबुलफजल, जो किसी प्रकार ख्वाजा का पक्षपाती नहीं कहा जा सकता, इन पत्रों को असंदिग्ध रूप से जाली समझता था और इसी वजह से उसने उन्हें ख्वाजा को नहीं दिखलाया। ख्वाजा की मृत्यु का कारण उसके कड़े व्यवहार के कारण उसकी अप्रियता तथा दरबार के दूसरे अफसरों का विद्वेष था, जिन्होंने उसके विरुद्ध जाल रचा।

[वही, पृष्ठ ७२]

तुलसी का योग

इतिहास शिरोमणि डा० ईश्वरीप्रसाद का मत आपके सामने है। हम उक्त ख्वाजा के दोष की मीमांसा में नहीं पड़ते। हमारे सामने तो तुलसी का 'मनसूर' है न? सो उसके विषय में उक्त 'चरित्र' का निष्कर्ष है—

प्रेम पंथ अति दूर, ऊँचो सातौ स्वर्ग ते।
चढ़ो एक मनसूर, सूरी सीढ़ी लाइ कै ॥ १ ॥
है हरि रस परिपूर, दरस गोसाईं को लह्यौ।
धन्य धन्य मनसूर, नाम सत्य अपनो कियौ ॥ २ ॥
करि आदर सनमान, कीन्ह प्रसंसा त्रिविध विधि।
बहु प्रकार को ज्ञान, दे सिक्ष्या निज कर लियो ॥ ३ ॥

[चरित्र, पृष्ठ १३०]

इतना ही नहीं। आगे का उपदेश तो और भी विचारणीय है। लीजिए—

लोहकीन लोहार की, गति नहिं जात बिचार।
जो सिर धारै सीख कै, ताही की वह वार ॥ १ ॥
ऊँच नीच कोऊ नहीं, हरि रस प्रेम पियूख।
तुलसी काम मयूष ते, लागै कौनउ रूख ॥ २ ॥
जेहि सरीर रति राम सो, तेहि आदरहिं सुजान।
रुद्र देह तजि नेह बस, बानर भे हनुमान ॥ ३ ॥

[वही, पृष्ठ १३०]

तो क्या 'ख्वाजा मंसूर' से गोस्वामी तुलसीदास का कोई गहरा लगाव न था ? कैसे कहा जाय ? किंतु 'चरित्र' के 'सूरी सीढ़ी लाइकै' को इसके अभाव में समझा कैसे जाय ? स्मरण रहे, तुलसी का एक स्वतंत्र दोहा भी है। कहते हैं किस विषाद से—

गोंड गँवार नृपाल महि, यमन महा महिपाल।
साम न दाम न भेद कलि; केवल दंड कराल ॥५५९॥

[दोहावली]

'केवल दंड कराल' के साथ ही इस 'अनय' पर भी तो ध्यान दें। कथन तुलसी का ही है। लीजिए। बोल ही तो पड़े—

काल तोपची तुपक महि, दारू अनय कराल।
पाप पलीता कठिन गुरु, गोला पुहुमी पाल ॥५१५॥

[वही]

फलतः उन्हें भी इसका फल भोगना पड़ा। सो कैसे ? प्रसंग अयोध्या का त्याग अभी आने को ही है। कृपा कर यहाँ सुनिए यह कि यह कहा क्या जा रहा है। सुनिए न—

जब यहि विधि विपुल बिताइ काल। कछु दिष्टि पर्यो कलि को कुचाल ॥
हिंसादिक बाधक भक्त रीति। सुचि मुक्ति पुरी बिच लखि अनीति ॥
तब जगनायक सो बिनै ठानि। यह देख न जात दयानिधानि ॥
भई आज्ञा यह जुग धर्म नीति। यहि विधि प्रपंच की इहै रीति ॥
जो सहि न जात यह कलि कुपास। निज कासी सो कीजै निवास ॥
कासी सुखरासी तिहू काल। जह रछक श्री शंकर दयाल ॥
जो काल कर्म गति सकत रोकि। जमदूत धूत कोउ सकै न टोकि ॥
सुनि आए कासी हरन सोक। भये अति प्रसंन्य सोभा बिलोकि ॥

[चरित्र, पृष्ठ २७-८]

चरित्र के इस कथन में इतिहास भले ही न हो पर है न स्वयं तुलसी की साखी इसी के पक्ष में। देखिए न, क्यों तुलसी समझा रहे हैं अपने आप को इस भाषा में—

मुक्ति जन्म महि जानि ज्ञान खानि अघ हानिकर।
जहँ बस संभु भवानि सो कासी सेइअ कस न ॥
जरत सकल सुर बृंद विषम गरल जेहिं पान किअ।
तेहि न भजसि मन मंद को कृपाल संकर सरिस ॥

[रामचरितमानस, चतुर्थ सोपान, आरंभ]

रामचरितमानस के चतुर्थ सोपान में इस समाधान की आवश्यकता क्यों पड़ी ? हम टीकाकारों की ऊहा की होड़ में

क्यों पढ़ें ? हमारा 'चरित्र' तो इसे आप ही स्पष्ट कर रहा है। देखिए न, उसका निवेदन है—

एक मुक्ति पुरी सहजहि सुपास। जह सकल संपदा सुख की रास ॥
जह राम नाम सो रति प्रकास। सपनेहुँ नहिं जहँ जम कि त्रास ॥
दूजो हरिचरित कियो निवास। एक सुबर्न पुन्नि सोभा सुबास ॥
सब पाईं नयन फल ह्वै निहाल। अगिनित लीला उत्सव बिसाल ॥
तहं पंडित बहु श्रुति के निधान। सुर बान के बकता सुजान ॥
तिन अपने मन बिच कियौ मान। सुनि भाषा रामायन पुरान ॥
तिन कहौं गोसांई सो निदान। कछु उचित न कीन्हो यह बिधान ॥

[चरित्र, पृष्ठ २८]

पंडितों को तुलसीदास के सामने किस प्रकार परास्त होना
पूरब पड़ा और श्री म सूदन सरस्वती ने क्या
कुछ कहा, इसे कौन नहीं जानता ? पर वास्तव में जानते हैं कितने लोग यह भी कि चरित्र की दृष्टि में इसके पहले 'अवध' में—

अहनिसि लीला ललित राम के गुन गन गावै।
बहु बिधि गाइ नचाइ नृत्य करि प्रभुहि रिझावै ॥
अरु पुनि किहे निहाल अवधासी नृत्यकारी।
गीतावलि निजु दई जो सब संपति सुखकारी ॥
समरथ पाठ अगान की दई गंधर्वन ते सरस।
पुनि साध द्वार ह्वै जीव का विषय उहाँ नहि अस परस ॥

[वही, पृष्ठ २७]

तात्पर्य यह कि अभी 'रामचरितमानस' का निर्माण नहीं हुआ था। हाँ, गीतावली बन चुकी थी। रामचरितमानस की रचना जिस राजनीति को लेकर हुई उसे 'पूरब' की चेतना का

प्रसव समझना चाहिए। देश में जो 'राम राज' स्थापित न हो सका वह 'मानस' में स्थापित हो गया और अपनी सुखद छाया में सबको सुखी बनाता रहा। स्मरण है न ? रामजीवन की अंतिम झाँकी है—

गए जहाँ सीतल अँबराई।

गोस्वामी तुलसीदास के जीवन को समझने में जो भूल हुई है उसका मुख्य कारण है इस 'चरित्र' को भुला देना। 'पूरब' से गोस्वामी जी का जो नाता रहा है उसकी सच्ची जानकारी के बिना गोस्वामी जी का उद्धार हो नहीं सकता। निश्चय ही अब वह समय आ गया है जब हम तुलसी को तुलसी बनाने जा रहे हैं और भावना अथवा अँगरेजी शासन के संस्कारवश कुछ अद्भुत करने जा रहे हैं। हमारा वह अद्भुत कुछ और न बन जाय इसी हेतु जताया यह जाता है कि वास्तव में यह 'चरित्र उपेक्षा का पात्र नहीं, तुलसी-जीवन की कुंजी है।

भवानीदास

और हो भी क्यों नहीं जब इसका रचयिता ही भवानीदास हैं। लीजिए उसका परिचय है—

गिरिजा अखिल ब्रह्मांड सिरजा जिन्हों थिरजा दीजिए।
चरनारबिंद मकुंद सुचि मकरंद अलि मोहि कीजिए।
तव नाथ गाथ उदार अति सो मातु सब तुव हाथ है।
सुर नर असुर श्रुति सुजस गावत सुनत नावत माथ है॥
सब गुन रहित अवगुन सहित तव चरण दृढ़ विश्वास हो।
धरि आस संज्ञा नाम को जाचै भवानीदास हो।
झूठेहु फुर निज दास की पति लाज करि आयौ सबै।
निज दिसि निहारि पुरारि प्रिय रखि लीजिए अजहूँ अबै॥

[चरित्र, पृष्ठ २-३]

भवानी की वन्दना के साथ भवानीदास का दर्शन हो गया रामप्रसाद तो अब उनके प्रेरक का साक्षात्कार कीजिए। लीजिए, आप कहते हैं—

कवित रीति एकौ नहीं, अवरौ सब गुन हीन।
दासन जस संबंध लखि, करिहै छोह प्रवीन ॥२॥
रामचरित रस भृंग जे, प्रभु पद दिढ अस नेह।
श्री गोसाईं अनकूल नित, तिनहि परम प्रिय एह ॥३॥
अग्रदास अज्ञा दई, हरिभक्तन गुन गाव।
भवसागर के तरन कों, नाहिन आन उपाव ॥४॥
तातै कछुक प्रसंग सुभ, सुन्यौं जो सत संवाद।
संत सिरोमनिहूँ दई, अज्ञा रामप्रसाद ॥५॥

[चरित्र, पृष्ठ १०]

और इस रामप्रसाद की परंपरा है—

श्री स्वामी नंदलाल ब्रह्म रत रामपरायन।
नगर सरीले बास ब्रह्मकुल के सुखदायन।
श्रीमत जोधाराम जिनहि कुल कमल दिवाकर।
जथा नाम प्रभु आपु मनो तन धरे कृपा कर।
प्रथम कछुक बंदन कियौ श्री गुरदेव जो परम हित।
अमित दानि नर रूप हरि तिन गुन गन की काह मति ॥१॥
श्रीमत चरन सु दास दुतिया प्रिय जन स्वामी के।
तिनके गुन अभिराम राम रति सब बिधि नीके।
श्री हीरामनि दास जो तिनके गुनगन मंडित।
शास्त्रज्ञ रति राम ज्ञान आचारज पंडित ॥
तेहि कुल कैरव सुधानिधि रामप्रसाद प्रकास किय।
हित चरन विषै रस अवध बसि श्री स्वामी की वृत्ति लिय ॥२॥

मोहि आपन करि जानि मानि कुलकानि पक्ष धरि।
नतरु विषै लपटान कौन हौ पात्र कृपा कर॥
त्रिबिध प्रसंग सुनाइ गोसाईं के सुखदायक,
भो निदेस ये चरित करहु भाषागुन गायक।
अज्ञा सिर धरि जोरि कर बिनवौ कवि कोविद चरन।
लखि चूक छिमा कीवो अबुध जानि दास अपनी सरन॥३॥

[चरित्र, पृष्ठ २-३]

श्री स्वामी रामप्रसाद जी के विषय में अभी इतना ही कहना पर्याप्त है कि आप तुलसीदास के अवतार समझे जाते हैं। आपका आविर्भाव काल है—

संवत शत सत्रह के ऊपर, दुगुन तीस जब रहे मनोहर।
सावन सुदि सत्तिमी सोहाई, ब्रह्म मुहूरत अति सुखदाई।
लगन जोग दिन मंगलकारी। प्रगटेउ शिशु सुंदर तनु धारी॥

[श्री महाराजचरित्र, पृष्ठ ११]

एवं साकेतगमन-काल है—

अट्ठारह सौ विक्रमी, संबत इकसठ जान।
श्रावण कृष्णा तीज तिथि, दिव्य दिवस मध्यान॥
कियौ गमन साकेत को, स्व स्वरूप सरसाय।
मो रघुनाथ प्रसाद पै, करुणामृत बरसाय॥

[श्रीमहाराजचरित्र पृष्ठ १३४-५]

रचनाकाल

अतएव इस 'श्रीमहाराजचरित्र' की छाया में इतना तो निर्विवाद रूप में कहा जा सकता है कि भवानीदास को उक्त तुलसी-चरित्र लिखने का आदेश सं० १८६१ वि० के पहले ही कभी मिला होगा। कब मिला होगा की अपेक्षा महत्त्व का प्रश्न है यह कि कब रचा गया होगा। सो कवि का कथन है—

श्रीनाभा जू जो रच्यौ, भक्तन चरित जहाज।
कछु प्रसंग तात विदित, गावत संत समाज॥
ताहू ते यह भिन्न कथा, अद्भुत सुखदाई।
कहौं जथामति गाइ पाइ हरि संत सहाई॥
सकल अपूरब कथा विचित्र प्रसंग बिबिधि बिधि।
हरि प्रिय जन अभ्यास नवल बरनौं मंगल निधि॥
नौ नित्य राम सो ते कह्यौ कछुक चरित कृत पारसी।
ताहू ते यह भिन्न मति जथा जगत बानारसी॥

[चरित्र, पृष्ठ १३]

सो इस 'बानारसी' विधान से इतना तो विदित ही हो गया कि इस चरित्र के पहले कोई 'पारसी' चरित्र भी था। कह तो नहीं सकता पर ऐसा कहने में कोई क्षति नहीं कि कदाचित् इस 'पारसी' का रहस्य है श्री भवानीशंकर याज्ञिक की भाषा में—

गलता (आमेर-जयपुर) निवासी 'अग्रदास' जी के शिष्य नारायणदास (नाभादास) रचित भक्तमाल केवल १९५ छप्पय, १७ दोहे तथा १ कुंडलिया छंद युक्त ग्रंथ था, परंतु इसकी कलेवर-वृद्धि उनके शिष्यों द्वारा होती रही। मूल ग्रंथ में सब मिला कर १२१० पंक्तियाँ अथवा चरण थे; नाभादास जी की शिष्य-परंपरा के प्रियादास जी ने 'भक्तरस बोधिनी' नामक ६३४ कवित्तों की भक्तमाल की टीका सं० १७६९ में रचकर ग्रंथ में ३७४६ पंक्तियाँ कर दीं। प्रियादासी टीका तो मूल भक्तमाल का अंग ही बन गई। दोनों में से किसी की पृथक सत्ता रही ही नहीं। प्रियादासी टीका रहित भक्तमाल की कोई प्रति देखने को नहीं मिलती। इसी प्रकार प्रियादास जी के पुत्र (अथवा पौत्र) वैष्णवदास जी ने भी गद्य-पद्य-मिश्रित भक्तमाल-प्रसंग की रचना कर भक्तमाल का आकार बढ़ाया। वैष्णवदास जी ने भक्तमाल के प्रचारार्थ बड़ा परि-

श्रम किया, इन्होंने काँधला-निवासी लक्ष्मणदास जी द्वारा सन् ११५८ हिजरी में भक्तमाल के आधार पर 'भक्तमाल उरबसी' नामक फारसी ग्रंथ रचवाया। इन्हीं ग्रंथों के आधार पर फारसी उर्दू तथा हिंदी में भक्तों के चरित्र-संबंधी अन्य ग्रंथ भी रचे गए।

[पोद्दार अभिनंदन-ग्रंथ, पृष्ठ ३०६]

हमारी समझ में भवानीदास के 'पारसी' का संकेत है यही 'भक्तमाल उरबसी' जिसका रचना-काल है सन् ११५८ हि० या सं० १८०२ वि०। अतएव हम सरलता से कह सकते हैं कि भवानीदास ने अपने 'अद्‌भुत चरित्र' का निर्माण इसके पश्चात् ही कभी किया। कब किया के अनुसंधान में और आगे न बढ़ हम यहाँ इतना और भी स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि 'भवानीदास' को 'बाबा बेनीमाधव दास' के किसी 'गोसाईं चरित' का पता नहीं। तो फिर उसका रहस्य क्या ? जो हो, अभी तो हमको इतना ही निवेदन करना है कि वस्तुतः गोस्वामी तुलसीदास जी के जीवन के अध्ययन में इसका महत्त्व अक्षुण्ण है। समय और सत्य की दृष्टि से भी।

तुलसी लिखित प्रति

भवानीदास रचित इस चरित्र की अवहेलना का परिणाम यह हुआ है कि आज भी 'राजापुर' तथा 'मलीहाबाद' की प्रतियाँ तुलसी के हाथ की लिखी हुई कही जा रही हैं। परंतु आश्चर्य की बात तो यह है कि 'चरित्र' को राजापुर का पता नहीं और मलीहाबाद के विषय में उसका कथन है—

मल्हियाबादी भाट इक, परम वैष्णव तेउ।
तिन बहु बिधि पूजा करी, बहु प्रकार करि सेउ ॥
तब निज पुस्तक दिय तिन्है, रामायन रामैन।
अजहु विराजत तिन सदन, हरि भक्तन सुख दैन ॥

सिंहासन आसीन रहि, दरसन पावहिं संत।
ते कर पूजा आरचा, सुख संपदा लहंत॥
मन बच कर्म जिन्है भयौ, रामायन सों प्रेम।
पाठ धारना श्रवन करिं, लहत सदा सुख क्षेम॥

[चरित्र, पृष्ठ ९३-४]

'पूजा-आरचा' के कारण यह भ्रांति नहीं होनी चाहिए कि इसका कारण उसका तुलसी का हस्तलेख है। कारण यह कि 'रामायण सों प्रेम' में महत्त्व 'रामायन' को ही दिया गया है। इसके अतिरिक्त हम देखते यह हैं कि भवानीदास समय पर इसकी सूचना कर देते हैं कि यह प्रति स्वयं तुलसी के हाथ की लिखी थी जो इस प्रकार किसी भक्त को दी गई। प्रसंग कई दृष्टियों से महत्त्व का है। अतः इसका पूरा उल्लेख कर देना उपादेय सिद्ध होगा। सो कहते हैं कि तुलसीदास 'खैराबाद' से प्रस्थान कर जब घाघरा के मार्ग से 'अवध' पहुँचने के विचार से जलमार्ग से चले तब कुछ और ही घटना घटी, जो है—

आगे दई चलाइ बस्तु भरि दुइ जलजाना।
यह समाज चढ़ि चले करत रघुपति गुन गाना॥
पै लख को एक ग्राम रामपुर नाम है ताको।
रोकि आगमनी नाव अटालो है यह काको॥

अब बिा जगाति नहिं छूटि है कह्यौ बहुत तिन मान नहि।
जम जाते कुजाति जगाति के काहू की जेहि कानि नहि॥१॥

असवारी की नाव जबै पहुँची तेहि ठाऊँ।
सधन हू बहु कह्यौ बतायौ जद्यपि नाऊँ॥
ताहू पर नहि मान तबै तिन पूछ गोसांईं।
कह ग्राम को नाम कौन भुइधर यहि ठाईं॥ २॥

कह्यौ हृदैराम को ग्राम यह नाम रामपुर बिस्व भन।
छत्री जाति तन तदपि है रामदास मम नाम जन॥

तब निज मन अनुमान किय, अब ऐसे सुभ ठौर।
आवै वस्तु जो काम तौ, हमहि न चाहिय और॥
वस्तु अनेक अमोल अति, अरु बहु जिनिस सुदेस।
सब छाड़े ज्यौं भेट किय, साध नरेस धनेस॥
तब हरखि गोसांई बिनै सुनाई अब मोहि अज्ञा दीजै।
मम भाग बड़ाई वस्तु भाव जो अंगीकार करीजै॥
हांकौ जलजाना चले सुजाना जोजन भरि जब आए।
सुनि ग्रामपती यह बरजि बिबिध पुनि नौका चढ़ि चढ़ि आए॥
बहु सीघ्र चलाई पहुँचे आई सादर सीस नवाए।
करि बहु मनुहारी बिनैनुसारी नाथ न जाहु बढ़ाए॥
अब परिश्रम कीजै जग जसु लीजै पावन भवन करीजै।
हम सुकृत न छीजै सोइ करुना करि पदवी दायन दीजै॥
बिनती बहु ठानी नेकु न मानी तब कीन्हौ बरिआई।
सब भये उतारे भागन भारे नौका खैंचि चलाई॥
यहि बिधि लै आए अति सुख पाए अस्तुति बहु बिधि लाई।
अति आरति करि करि आनंद भरि भरि दियौ वास सुखदाई॥
सेवा राम कीन्हें अति लव लीने ब्रह्महि के रस भीने।
गुन भाव सु ग्राही प्रेमहि चाही मानि सबै विधि लीन्हे।
तब ह्वै प्रसंन्य तह वास कियौ। अभिलाखिन दरस हुलास दियौ।
बहु भजन उपाई रचे बिरचे। चख धारन के सुखसाज सचे।
सब लोक बिसोक सनाथ किए। बहु संपति अभिमत दान दिए।
मथुरा नाम हुतो एक खेरो। मानो सर्बस जस गुन घेरो।

तह सो आश्रम सुभग बनायौ। निज समाज को साथ टिकायौ।
रामायन निज लिखी सो दीन्ही। मनो थापना तीरथ कीन्ही।

[चरित्र, पृष्ठ १०७-८]

भवानीदास के इस कथन की पुष्टि 'राय कवि दौलतराम जी' के इस अवतरण से आप ही हो जाती है—

हृदय राम विख्यात भे, हृदय बसाये राम।
पुर शोभा दूनी करी, चारि वर्ण विश्राम ॥३०॥
ग्राम रामपुर नाम, हृदय राम भूपालमणि।
रामघाट सुखधाम, रमई गोड़िया नाम सुनि ॥३१॥
तुलसीदास कृपाल, राम भक्त तन मन वचन।
आए ग्राम सुकाल, वास कियो कछु काल तहँ ॥३२॥
रामायण निज कर लिखित, दै पुनि दीन्ह असीस।
अचल होइ नृपता सदा, तुनु तव रामपुरीस ॥३३॥

[रसमौर, पृष्ठ ७]

इतना ही नहीं अपितु स्वयं राजा महेश्वरबख्श सिंह 'रामपुर मथुराधर्वीश' का निवेदन है—

रामपुर-मथुरा

पुर शोभा बाहुल्य बढाई। द्विज क्षत्रिय विश शूद्र बसाई।
ग्राम रामपुर ते कछु दूरी। दिशि कौवेर्य सरित जल पूरी।
रामघाट गंडकि सर माहीं। रमई गोड़िया हो तेहि ठाहीं।
गोस्वामी श्री तुलसीदासा। आए तेहि थल सहित हुलासा।
घाट नाम पूछो हरषाई। रामघाट तेहि दीन्ह बताई।
नाम रमैया मोर कृपाला। यहि कृत करत वंश प्रतिपाला।
घाट पार को पुर कथु नामा। बसत रामपुर ग्राम ललामा।
को नृप हृदयराम नरनाहा। सुनि पायो तिन बड़ उत्साहा।

आवत भे सानंद तहँ, सुनि नृप आयो धाइ।
युत आदर सत्कार तिन, बास कराए आइ ॥

सेवन कीन्ह यथाविधि रूपा। भे प्रसन्न तब साधु अनूपा।
आशिष दीन्ह अचल यह राजू। काहू काल न होइ अकाजू।
रामायण निज कृत तहँ थापी। पूज्यो यहि अरि सकै न चापी।
प्रतिमा आंजनेय मँगवाई। भूप निकेत आपु पधराई।
अजहूँ राजत भूपति धामा। पूजत प्राप्त होत मन कामा।
[श्रीमहेश्वररोगगजचिकित्सा, पृष्ठ १०-११]

यह सं० १९५७ वि० की बात है। भूमिका के अन्त में कवि का परिचय और पता है—

समस्त भारत निवासियों का चरणसेवक

महेश्वर

रामपुरमथुराद्यधीश

अयोध्या के पश्चिम ४० कोस सरयू के दक्षिणतट चन्द्रभागा के उत्तर तट जिला सीतापुर निवासी।

[वही, पृष्ठ २]

फिर भी तुलसी के जीवन में इस स्थान की इतनी उपेक्षा? जिसे वैज्ञानिक दृष्टि से इसकी परीक्षा करनी हो उसे कहीं अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं। उसे यहीं 'कविवंश-वर्णन' भी प्राप्त हो जायगा। उसकी गणना से आप ही सिद्ध हो जायगा कि हृदयराम तुलसी के समकालीन थे। अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। यदि संभव हो तो इस स्थान की शोध होनी चाहिए और इसी प्रकार चरित्र-वर्णित अन्य स्थानों को भी एक बार अपनी आँख से देख लेना सभी प्रकार हितकर होगा।

२—वार्ता में तुलसीदास

रूप परिवर्तन

गोस्वामी तुलसीदास के अध्ययन में 'वार्ता' का महत्त्व 'सोरों सामग्री' की कृपा से बहुत कुछ बढ़ गया है और बुझती हुई आग को हवा देकर जिलाया जा रहा है। हम अभी उसके बारे में कुछ नहीं कहते। हाँ, इतना निवेदन कर देना चाहते हैं कि इस क्षेत्र में एक ऐसा भी प्राणी है जो अपनी सरल शैली में धीरे से कह जाता है—

व्यास जी का प्रथम बार वृंदावन जाने का समय सं० १५९१ निकलता है, और अंतिम बार वे संवत् १६१२ में वृंदावन गये तथा जीवनपर्यंत वहीं पर रहे। गोस्वामी तुलसीदास जी का वृंदावन जाने का काल निम्नलिखित ग्रंथों में तद्विषयक प्रसंगों की समीक्षा करने पर अलग-अलग समय में प्रकट होता है—

१, मूल गोसाईं चरित के अनुसार संवत् १६४९ के लगभग।

२. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता से संवत् १६२६ के लगभग।

उपरोक्त दोनों संवतों में व्यास जी का वृंदावन में ही निवास था। इन ग्रंथों में कृष्ण-द्वारा गोस्वामी तुलसीदास की अनन्य राम-भक्ति के प्रण की रक्षा के लिए धनुष-बाण धारण करने की घटना का उल्लेख किया गया है। किंतु इस घटना के चमत्कार का श्रेय दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता में नंददास की भक्ति को दिया गया है। मूल गोसाईं चरित में वह गोस्वामी तुलसीदास की भक्ति के प्रभाव से वर्णित है। उक्त दोनों ग्रंथों के लेखक अपने-अपने संप्रदाय का आग्रह रखते थे। मूल

गोसाईं चरित की प्रामाणिकता में भी संदेह किया जाता है। अतएव इस विषय पर प्रियादास जी की 'भक्ति-बोधिनी' भक्तमाल की टीका तीसरा साक्ष्य मान लेना होगा। जो टीकाकार के चैतन्य संप्रदायी होने के कारण उक्त दोनों सांप्रदायिक आग्रहों से मुक्त एवं जिसके अनुसार वृंदावन में तुलसीदास की यात्रा के समय उनकी अनन्यता की टेक रखने के लिए कृष्ण-मूर्ति का धनुष-बाण धारण करने की चमत्कार-पूर्ण कथा का श्रेय तुलसीदास जी को ही था। यद्यपि इस प्रकार की चमत्कारपूर्ण घटनाओं की ऐतिहासिक समीक्षा करना अभिप्रेत नहीं है, तथापि जिन व्यास जी के संबंध में हमें निर्णय करना है, वे दैवी चमत्कारों में पूर्ण विश्वास रखते थे, जैसा कि उनके 'साँची भक्ति नामदेव पाई' आदि पदों में वर्णित घटनाओं से प्रकट है। नामदेव के हाथ से भगवान के दूध पी जाने की चमत्कारपूर्ण घटना व्यास जी की साखी में भी वर्णित है—

नामा के कर पय पियौ, खाई ब्रज की छाक।
'व्यास' कपट हरि ना मिलै, नीरस अपरस पाक॥

अतएव हमें इस हेतु तो उस घटना को मान ही लेना पड़ेगा। व्यास जी का उक्त घटना को संकेत करने वाला पद यह है—

करौ भैया साधुन ही सों संग,

पति-गति जाय असाधु संग तें, काम करत चित भंग॥
हरि तें हरिदासिन की सेवा; परम भक्ति कौ अंग।
जिनके पद तीरथ भै पावन, उपजावत रस-रंग॥
जिनके बस दसरथ-सुत मार्‍यौ, माया कनक कुरंग।
तिनके कहत 'व्यास' प्रभु सुमर्‍यौ, सत्वर धनुष-निषंग॥

[व्या० २१७]

यहाँ पर व्यास जी के 'प्रभु' वृंदावन-विहारी श्रीकृष्ण हैं, न कि विष्णु, क्योंकि व्यास जी ने अपने कितने ही पदों में नारायण या विष्णु

को अपने प्रभु राधावल्लभ से पृथक कहा है। कृष्ण के इस प्रकार धनुष-बाण धारण करने की कथा अन्य किसी साधु के संबंध में प्रचलित न होने के कारण इस पद में गोस्वामी तुलसीदास से संबंधित इस चमत्कारिक घटना के संकेत को अभिप्रेत समझना चाहिए।

[भक्त-कवि व्यास जी, पृष्ठ १८७-८]

श्री वासुदेव गोस्वामी के इस विवेचन में यदि सार है तो नागरीदास की साखी यह एक बड़ी बात है। कारण यह कि एक प्रकार से यह आँख-देखी साखी है, और है एक अनन्य कृष्णभक्त की साखी।

किन्तु इससे भी अधिक दर्शनीय वस्तु है यह कि स्वयं भक्त-वर नागरीदास, जो निश्चय ही वल्लभ-कुल के भक्त थे, 'वार्ता' के विपरीत कुछ और ही कथा सुनाते हैं। पाठकों की सुविधा के लिए यहाँ डा० माताप्रसाद गुप्त जी का दोनों का तुलानात्मक अध्ययन दिया जाता है। आप लिखते हैं—

(क) 'माला' के अनुसार तुलसीदास एक समय अपनी यात्रा में गोवर्द्धन आ निकले थे, किन्तु 'वार्ता' के अनुसार वे अपने छोटे भाई नंददास से मिलने के लिए गोवर्द्धन आए थे।

(ख) 'माला' के अनुसार उन्हें गोस्वामी विट्ठलनाथ जी श्रीनाथ जी के दर्शनों के लिए लिवा गए थे, जब कि 'वार्त्ता' के अनुसार नंददास जी श्रीनाथ जी के दर्शनों के लिए गए थे और तुलसीदास उनके पीछे-पीछे गए थे।

(ग) 'माला' के अनुसार 'कहा कहौं छवि आपकी...' तुलसी-दास ने कहा, जब कि 'वार्त्ता' के अनुसार इसे नंददास जी ने कहा।

(घ) 'माला' के अनुसार ठाकुर जी ने तुलसीदास की भक्ति के अधीन होकर स्वरूप-परिवर्त्तन किया, जब कि 'वार्त्ता' के अनुसार 'नंद-दास जी श्रीगुसांई जी के सेवक हैं' इस कानि से उन्होंने यह किया।

(ङ) 'माला' के अनुसार यह स्वरूप-परिवर्तन देखकर तुलसीदास की अनन्यता पर 'सबनि के मन में इनकी ओर को बड़ो उत्कर्ष आयो है'—और इन 'सबनि' में गोस्वामी विट्ठलनाथ जी भी हो सकते हैं जो तुलसीदास को लिवा कर गए थे—जब कि 'वार्त्ता' के अनुसार मंदिर से बाहर आकर नंददास जी के साथ तुलसीदास ने भी गोस्वामी विट्ठलनाथ जी को साष्टांग दंडवत की है।

(च) 'माला' में स्वरूप-परिवर्तन का प्रसंग यहीं पर समाप्त हो जाता है, किंतु 'वार्त्ता' में गोस्वामी विट्ठलनाथ जी को दंडवत करने के अवसर पर तुलसीदास नंददास जी से यहाँ भी उसी प्रकार का दर्शन कराने के लिए कहते हैं जैसे नंददास जी ने उन्हें वहाँ कराए थे, और नंददास जी की विनती पर गोस्वामी विट्ठलनाथ जी अपने पाँचवें पुत्र रघुनाथ लाल जी से कहते हैं, 'रघुनाथ जी, तुम्हारे सेवक आए हैं, इनकुं दर्शन देवो।' और रघुनाथ लाल जी तथा उनकी स्त्री जानकी बहू जी तुलसीदास को राम तथा सीता के रूप में दर्शन देते हैं।

(छ) 'बरनौं अवध गोकुल गाम' शीर्षक पद 'माला' के अनुसार तुलसीदास ने वहाँ एक वैष्णव मित्र के कई दिनों के आग्रह पर बनाया था, जब कि 'वार्त्ता' के अनुसार यह पद उन्होंने रघुनाथ लाल जी तथा जानकी बहू जी के स्वरूप-परिवर्तन पर रचा'। (पद में ब्रज तथा अवध का तुलनात्मक वर्णन है, स्वरूप-परिवर्तन अथवा दर्शन संबंधी कोई संकेत नहीं हैं, यह द्रष्टव्य है। [तुलसीदास, पृष्ठ ८१–२]

डा० माताप्रसाद गुप्तजी के इस 'तुलनात्मक अध्ययन' में आपने देख लिया होगा कि वास्तव में 'वार्ता' का लक्ष्य क्या है।

नंददास की स्थिति

हम अभी केवल इतना ही कह कर आगे बढ़ना चाहते हैं कि 'वार्ता' के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी इस बात का कोई संकेत नहीं है कि वस्तुतः इस घटना से नंददास का कोई लगाव भी है।

यहाँ तक कि स्वयं वल्लभ-कुल के भक्त नागरीदास को भी इसका पता नहीं। दूसरी ओर सभी इस घटना को साधु समझते और इसका श्रेय तुलसीदास को देते हैं। परन्तु एक विशेषता इधर यह देखने को मिली है कि 'सं० १६९७ की वार्ता' में इस स्वरूप-परिवर्तन का कोई उल्लेख नहीं हुआ है। हाँ, उसमें इस घटना का नाम नहीं। इसको तो उसके संपादक 'संवत् १७५२ की लिखित हरिराय जी के भावप्रकाश वाली' प्रति के माथे मढ़ते हैं। अतएव हम भी इस प्रसंग को यहीं छोड़ अभी देखना यह चाहते हैं कि सचमुच इसके अनुसार 'तुलसीदास' का 'घर-बार' ठहरता किस देश में है। सो नंददास का अति संक्षिप्त परिचय है—

अब श्री गुसांई जी के सेवक नंददास सनोढिया ब्राह्मण (रामपुर में रहते) तिनके पद (अष्टछाप में) गाइयत हैं, सो वे पूर्व में रहते, तिनकी वार्ता।

[अष्टछाप, पृष्ठ ५२५]

कोष्ठ के भीतर के अंश 'भाव-प्रकाश' के हैं। अतः उनको छोड़ देने पर काम के रह गए परिचय के दो सूत्र। उनमें से पहला तो है सनोढिया ब्राह्मण' और दूसरा है 'पूर्व', इन्हीं को सामने रखकर कुछ आगे का हाल देखना है। सो वार्ताकार स्वयं कहते हैं—

पूर्व का संकेत

"सो एक दिन पूर्व कौ संग श्रीद्वारिका को श्री रणछोड जी के दर्शन कों चलत हतो।

[वही, पृष्ठ ५२६]

प्रश्न उठता है कि 'पूर्व' से यह 'संग' आ रहा था और मार्ग में टिक गया था अथवा 'पूर्व' से जाने की अभी तैयारी कर रहा था। समाधान के लिए जो थोड़ा सा सूत्र हाथ लगा यह है—

तब तुलसीदास ने अपने मन में विचार कियो जो—या संग में मुख्य मनुष्य होइ ताको ठीक करिए। तब तुलसीदास ने संग में जाइके ठीक पारी, तब दूसरे दिन नंददास कों संग लेके आए। सो वा मुखिया सों तुलसीदास ने कह्यो, जो—यह मेरो छोटो भाई तिहारे संग में जात है, तातें तुम मार्ग में याकों बोहोत जतन सों राखियो। और अपने साथ लेके आइयो। सो जैसें काहू ठौर यह रहि न जाइ। तब सगरे संगवारेन ने कह्यो, जो—भलो, और तुम काहू बात की चिंता मति करियो, जो इतने जने साथ में हैं, त्यों एहू है।

[वही, पृष्ठ ५२८-६]

बात परिचित जनों की जान पड़ती है तो भी संदेह को स्थान है ही। अतः आगे की सुनिए—

और एक समय श्री मथुराजी तें संघ चल्यो, सो श्री जगन्नाथ राइजी के दर्शन कों। ता संघ में दस पांच संग में वैष्णव हू गए हते। सो कछू दिनमें वह संघ कासी जाइ पोहोंच्यो।

तब तहाँ नंददास के बड़े भाई तुलसीदास तहाँ हुते। तब उनने सुनी जो—आज इहाँ श्रीमथुराजी कौ संघ आयो है। तब तुलसीदास ने वा संघ में आइ के पूंछी जो उहाँ श्रीमथुराजी में तथा श्री गोकुल में नंददास नामक एक ब्राह्मण गयो हतो, सो तहाँ तुमनै देख्यो सुन्यो होइ तो कहो।

[वही, पृष्ठ ५६४]

तात्पर्य यह कि यहाँ 'कासी' का नाम खुला और 'पूर्व' के स्पष्टीकरण में कुछ सहायता मिली।

काशी में घर

काशी में तुलसीदास का क्या था? निवेदन है, उसी 'वार्ता' में यह भी कहा गया है—

सो बांचिके तुलसीदास के मन में यह आई जो—अब तो नंद-दास सर्वथा इहां न आवेगो सो यह निश्चय करिके तुलसीदास तो चुपचुपाते अपने घर गए।

[वही, पृष्ठ ५६६]

'अपने घर' का पता लग गया तो 'अपने देश' की थाह लीजिए। कहते हैं—

तब श्री गुसांईजी के वचन सुनि के तुलसीदास बोहोत प्रसन्न भए। पाछें श्री गुसांई जी तें विदा होइके अपने देश कों गए। और नंददास ने हू फेरि तुलसीदास कौ नाम हू न लियो।

[वही, पृष्ठ ५७६]

तात्पर्य यह कि 'वार्ता' के कथनानुसार तुलसीदास का 'घर' काशी और 'देश' पूर्व है। ननु नच को स्थान इसलिए नहीं कि—

सो वे नंददास और तुलसीदास दोइ भाई हते। तामें बड़े तो तुलसीदास, छोटे नंददास। सो वे नंददास पढ़े बोहोत हते, और तुलसीदास तो रामानंदी के सेवक हते। सो नंददास कों हू रामानंदी के सेवक किए हते।

[वही, पृष्ठ ५२५–६]

में घरेलू परिचय दिया गया है। काशी के अतिरिक्त वार्ता के आधार पर कहीं अन्यत्र तुलसीदास का घर समझना भारी भूल है। हाँ, 'सनोढ़िया ब्राह्मण' कहना उसके सर्वथा अनुकूल है।

जी। अभी तक हमने 'सं० १६९७ की वार्ता' का आधार लिया था और देखा था कि उसकी दृष्टि में तुलसीदास की स्थिति क्या है। उसके उपरांत अब कुछ 'सं० १७५२' की भावप्रकाश वाली प्रति का प्रमाण लीजिए। सो उसमें स्पष्ट कहा गया है—

और एक समै तुलसीदासजी ने बिचार कियो जो—नंददास श्री गोकुल में है, सो मैं जाइके लिवाइ लाऊँ। यह विचारि के तुलसीदास काशी जी तें चलें, सो कितेक दिन में श्री मथुराजी आइ पोहोंचे।

'तुलसीदास काशी जी तें चले' से कहीं अधिक महत्त्व का है इसी के आगे का यह कथन—

तब मथुराजी में पूछे जो—इहां नन्ददास ब्राह्मण कासी तें आयो है, सो तुम जानत होउ तो बताओ, जो—वह कहां होइगो।

[अष्टछाप, पृष्ठ ५७७]

रामपुर का निर्देश

अस्तु। अब तो 'वार्ता' के प्रमाण से ही भलीभाँति प्रमाणित हो गया कि वास्तव में 'तुलसी' और 'नन्द' का निवास 'काशी' ही था। अब थोड़ा यह भी देख लेना चाहिए कि उसकी दृष्टि में 'रामपुर' की स्थिति क्या है। सो 'भावप्रकाश' का प्रकाशन है—

और सो वे पूरब में 'रामपुर' गाम में जन्मे।

[वही, पृष्ठ ५२५]

परन्तु क्या इससे सचमुच उक्त वार्ता का 'भावप्रकाशन' हो गया ? 'पूरब' में 'रामपुर' की कमी ? न जाने कितने 'रामपुर गाम' वहाँ बसे हैं। तो फिर इसका अर्थ क्या ? निवेदन है 'अयोध्या'। 'अयोध्या' ही वास्तव में 'रामपुर' है। किन्तु क्या अयोध्या को 'गाम' कहा जा सकता है ? समाधान भी वहीं धरा है। देखिए न, कितना सटीक कथन है—

पाछें तुलसीदास ने नन्ददास सों कही जो—तुम हमारे संग चलो। सो—गाम रुचै तो अयोध्या मै रहो, पुरी रुचै तो काशी में रहो, पर्वत

रुचै तो चित्रकूट में रहो, वन रुचै तो दंडकारण्य में रहो। ऐसे बड़े-बड़े धाम श्री रामचन्द्र जी ने पवित्र करे हैं।

[वही, पृष्ठ ५७८]

भाव यह कि 'वार्ता' के आधार पर कभी यह सिद्ध नहीं हो सकता जो तुलसी वा नन्ददास 'सोरों' के पास किसी 'रामपुर' में जन्मे थे और फिर नन्ददास ने उसे अपने प्रताप से 'श्यामपुर' कर दिया। कारण यह कि 'वार्ता' में कहीं इसका संकेत भी नहीं है। हाँ, उसकी साखी सर्वथा इसके विपरीत है।

किन्तु आज की अद्भुत खोज है—

प्राणेश की खोज

श्री वृंदावन-निवासी प्राणेश कवि ने 'अष्टसखामृत' नामक काव्य-ग्रंथ में श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य तथा गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के अष्ट-छाप के भक्त कवियों की महिमा का वर्णन किया है, जिसकी एक हस्तलिखित प्रति गोकुल में प्राप्त हुई है। यह प्रतिलिपि सं० १८६५ के चैत्र शुक्ला ५ शुक्रवार को समाप्त हुई थी। इसमें नंददास जी के विषय में कुछ लिखा गया है, वह नीचे दिया जाता है—

राम-भगत तुलसी-अनुज नंददास व्रज ख्यात।
दुज सनौढ़िया सुकुल कवि कृष्ण भगत अवदात॥
नंददास विट्ठल-कृपा बहु बित वैभव पाय।
खरच्यौ सब परमार्थ हित श्री हरि भक्ति बढ़ाय॥
कर्यौ राम तें स्याम निज बदलि इष्ट अरु गाम।
रच्यौ स्याम सर बाछरू हरि बलदाऊ धाम॥
सौंपि अनुज चँदहास कर सुत दारा धन धाम।
आए सूकर खेत तजि व्रज बसि सेयौ स्याम॥
नंददास मुख-माधुरी बोलनि प्रान अनूप।
सुर नर मुनि की का चली जिन मोहे व्रजभूप॥

बाँचत श्रीमद्भागवत बिबिध भाँति अरथाय।
बैन सुधारस जनु सने देत भक्ति उमगाय॥
कृष्ण राम के रूप भये नंददास मन आनि।
लखि तुलसी मन चलि रहे प्रान जोरि जुग पानि॥
रामायन भाषा बिरचि भ्राता करी प्रकास।
देखि रची श्रीभागवत भाषा श्री नंददास॥
जब बरनत गोपी - बिरह नंददास पद गाइ।
स्रवत नैन निरझर बनत कृष्ण प्रेम पुलकाइ॥
प्रान सनेही स्याम के, नंददास बड़ भाग।
प्रति छन हरि सेवा निरत, पुष्टि पंथ अनुराग॥

उक्त उद्धरण से तुलसीदास, नंददास तथा चंद्रहास का भाई और सनाढय शुक्ल होना समर्थित होता है। नंददास जी अपनी संपत्ति, स्त्री तथा पुत्र को अपने भाई चंद्रहास को सौंपकर सूकरक्षेत्र से ब्रज चले आए और यहाँ भागवत भाषा बनाया। नंददास जी का मन रखने के लिए श्रीकृष्ण ने तुलसीदास जी को रामजी का रूप दिखलाया। नंद-दास जी के विरह के पद बड़े मर्मस्पर्शी थे और यह हरिभक्ति के अनन्य अनुरागी थे।

तात्पर्य यह कि इस ग्रंथ से प्राप्त विवरण यद्यपि कोई नया प्रकाश नंददास जी की जीवनी पर नहीं डालता पर अन्य साधनों से प्राप्त सामग्री की कई बातों का समर्थन अवश्य करता है।

[नंददास ग्रंथावली भूमिका, पृष्ठ २५-२६]

'सोरों-सामग्री' के 'प्राणेश' जी भूलकर भी 'काशी' का नाम नहीं लेते। हाँ, इतना कहना तो अवश्य चाहते हैं कि—

करयौ राम तें स्याम निज बदलि इष्ट अरु गाम।

किन्तु साथ ही कुछ और मजे की बात कह जाते हैं। सुनिए तो सही, गूढ़ रहस्य की बात है। लीजिए—

रच्यौ स्याम सर बाछरू हरि बलदाऊ धाम ॥

तो फिर 'बलदाऊ' के प्रिय नाम 'राम' से इतनी चिढ़ क्यों जो 'राम' को 'स्याम' कर दिया ? फिर सच तो कहें 'कर्‍यौ राम तें स्याम' के आधार पर ग्राम का नाम 'रामपुर' सिद्ध कैसे हो सकता है ? 'बदलि इष्ट अरु गाम' से 'रामग्राम' भले ही ध्वनित हो ले। किन्तु 'प्राणेश' जी को पूरा पता है कि सोरों-आन्दोलन से यह सब कुछ संभव है। संकेत हुआ नहीं कि पाठकों ने झट सब कुछ समझ लिया। परन्तु आश्चर्य तो यह है कि 'तीन जन्म की लीला भावना' के रचयिता वार्ता के पारंगत पंडित श्री हरिराय जी भी इसको नहीं जानते। जानते भी कैसे ? उस समय सोरों-सामग्री किसी के पास थी कहाँ ? उसका प्राकट्य तो इस शती में हुआ है न ? तुलसी का सौभाग्य ही समझिए कि जिनके पूर्वजों ने उनके 'राम' से चिढ़ कर अपने 'पुर' का नाम ही बदल दिया वे ही आज उन पूर्वजों के किए पर पानी फेर उसी 'राम' के तुलसी के लिए आज न जाने क्या क्या कर रहे हैं। फिर भी लोग उनसे पूछना यही चाहते हैं कि क्या यह सच भी है ? अब तक सोरों की सारी सामग्री किसी कूड़े में क्यों पड़ी थी और आज एक एक कर सहसा प्रकट भी होने लगी तो कृपया इस बात को सर्वविदित क्यों नहीं कर देती कि उसका स्वयं नंददास की रचना से मेल क्यों नहीं ? कोई कहीं दिखा तो दे कि नंददास के किसी पद में यह संकीर्णता है। पंक्ति की बात तो और भी कठिन है। सुनिए, निवेदन नंददास जी का ही है। ललक की लालसा पर ध्यान तो दीजिए—

राम-कृष्ण कहिए उठि भोर।
अवध-ईस वे धनुष धरे हैं, ये ब्रज ; माखन चोर ॥

उनकें छत्र चँवर सिंहासन, भरत सत्रुहन लछमन जोर।
इनकें लकुट मुकुट पीतांबर, नित गायन सँग नंदकिसोर ॥
उन सागर में सिला तराई, इन राख्यौ गिरि नख की कोर।
'नंददास' प्रभु सब तजि भजिऐ, जैसें निरखति चंद चकोर ॥३७॥
[अष्टछाप-परिचय, पृष्ठ ३२५]

रही निष्ठा की बात। सो प्रत्यक्ष ही नंददास का निवेदन है—

जो गिरि रुचै तो बसौ श्रीगोवर्धन, ग्राम रुचै तो बसौ नंदगाँम।
नगर रुचै तो बसौ श्री मधुपुरी, सोभा सागर अति अभिराम ॥
सरिता रुचै तो बसौ श्री यमुना-तट, सकल मनोरथ पूरन काम।
'नंददास' काननहिं रुचे तौ, बसौ भूमि वृंदावन धाम ॥
[वही, पृष्ठ ३२५]

श्री मीतल का मत

'वार्ता' तथा 'सोरों-सामग्री' में तुलसीदास की जो गति बनी है और नंददास का उनमें जो सत्कार हुआ है उसकी मीमांसा में पड़ने से पहले ही जानने की बात यह है कि श्री प्रभुदयाल मीतल के कथनानुसार खोज में नंददास की निम्नलिखित रचना प्राप्त हुई है, जिसमें उन्होंने अपने ज्येष्ठ भ्राता के रूप में तुलसीदास की पद-वंदना की है—

श्रीमत्तुलसीदास स्व गुरु भ्राता पद बंदे।
सेष सनातन विपुल ज्ञान जिन पाइ अनंदे ॥
राम-चरित जिन कीन, तापत्रय कलि-मल हारी।
करि पोथी पर सही, आदरेउ आप पुरारी ॥
राखी जिनकी टेक, मदनमोहन धनुधारी।
वालमीकि अवतार कहत, जेहि संत प्रचारी ॥
'नंददास' के हृदय-नयन को खोलेउ सोई।
उज्ज्वल रस टपकाय दियौ, जानत सब कोई ॥

हमारे मतानुसार नंददास को तुलसीदास का भाई मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। वार्ता में इस विषय का स्पष्ट कथन हुआ है, जिसकी पुष्टि सोरों-सामग्री से भी होती है। वार्ता साहित्य और सोरों-सामग्री की अप्रामाणिकता के संबंध में जो तर्क उपस्थित किए गए हैं उनसे हम सहमत नहीं हैं। हम गत पृष्ठों में वार्ता साहित्य की प्रामाणिकता सिद्ध कर चुके हैं और सोरों-सामग्री को भी अप्रामाणिक मानने का हम कोई कारण नहीं पाते। ऐसी दशा में जब तक विश्वसनीय सामग्री अथवा अकाट्य युक्तियों द्वारा इसके विरुद्ध निर्णय न हो जाय, तब तक हम नंददास को तुलसीदास का भाई मानने के पक्ष में ही रहेंगे।

[अष्टछाप-परिचय, पृष्ठ ३०२–३]

वार्ता से भ्रान्ति

श्री मीतल जी के निष्कर्ष से सहमत होना कठिन है। हमारी समझ में श्री नंददास की उक्त रचना ही इस बात का निर्णय कर देती है कि इस विषय में 'वार्ता' और 'सोरों-सामग्री' मान्य नहीं। कारण यह कि इसमें कहा गया है–

१—श्रीमत्तुलसीदास स्व गुरु भ्राता पद बंदे।
२—सेष सनातन विपुल ज्ञान जिन पाइ अनंदे।
३—राखी जिनकी टेक, मदनमोहन धनुधारी।
४—'नंददास' के हृदय-नयन को खोलेउ सोई।

परन्तु इनमें से किसी की भी संगति 'वार्ता' वा 'सोरों-सामग्री' के साथ नहीं बैठती। आश्चर्य तो यह है कि श्री मीतल जी 'गुरु भ्राता' का सीधा अर्थ 'गुरुभाई' न कर न जाने किस प्रमाण पर, किस प्रेरणा से, इसका अर्थ कर जाते हैं 'ज्येष्ठ भ्राता'। कदाचित् 'वार्ता' और 'सोरों-सामग्री' की पुकार पर कान दे ऐसा कर जाते

हैं। अन्यथा २ में तो गुरु 'सेष सनातन' का स्पष्ट उल्लेख भी है। और ३ का तो प्रत्यक्ष ही 'वार्ता' से विरोध है। 'वार्ता' में तो इसका श्रेय नन्ददास वा गो० विट्ठलनाथ की महिमा को प्राप्त हुआ है न? ४ की स्थिति भी वही है। 'वार्ता' के नंददास तो तुलसीदास को लिखते हैं—

मेरो विवाह प्रथम तो श्रीरामचन्द्र जी सों भयो हतो, ता पाछें बीच में श्रीकृष्ण आइ पोहोंचे, सो आइ के अचक ले गए। जो—जैसे कोई लौकिक में ब्याह करि ले जाइ, और कोइ जोरावर लूटि लेइ। सो तैसे ही श्रीरामचंद्र जी में बल होतो तो मोकों श्रीकृष्ण कैसे ले जाते? और (श्री रामचन्द्र जी तो एक पत्नीव्रत हैं। सो दूसरी पत्नी कूं कैसे संभारेंगे? एक पत्नी हू बराबर संभारि न सके, सो रावण हरि के ले गयो। और श्रीकृष्ण तो अनन्त अबलान के स्वामी हैं, और इनकी पत्नी भए पाछें कोई प्रकार कौ भय रहे नाहीं है, एक कालावच्छिन्न अनन्त पत्नी कूं सुख देत हैं। जासों मैंने श्रीकृष्ण पति कीनो है। सो जानोगे) अब तो तन, मन, धन यह लोक परलोक हैं सो सब श्रीकृष्ण कौ है। तातें अब तो मैं परबस होइ के रह्यो हूँ।

[अष्टछाप, पृष्ठ ५६७-८]

निश्चय ही यह नंददास वह नंददास नहीं जो आप ही कहते हैं उक्त तुलसीदास के विषय में—

'नंददास' के हृदय-नयन को खोलेउ सोई।
उज्वल रस टपकाय दियौ, जानत सब कोई॥

'चरित्र' का पक्ष

हाँ, उक्त 'नंददास' का स्वरूप है—

तब ते अधिक सप्रेम है, करत कृष्ण गुनगान।
आनंद सो विचरत रहै, नंददास सुखखान॥१॥

सुनि आगमन गोसाईं को, वृंदावन मो जाइ ।
मिले पुलकि अति प्रेम ते, आनँद उर न समाइ ॥२॥
पद सुनाइ करि भेट तहँ, कियौ हाँस मुसकाइ ।
लीला कृष्ण बहुत करौ, राम अल्प गुन गाइ ॥३॥
तब कर जोरि बिनै कर्‌यौ, बिव्रस बाल अरु दास ।
तात मात सौंपहि जेहि, तेहि भजु तुलसीदास ॥४॥
प्रथमहि तुमही धर्‌यो मम, नंददास अस नाम ।
दसरथ दास न क्यों कह्यौ, रटते नित गुन ग्राम ॥५॥
दास जौन सरकार को, करि दीन्हो तुम मोहि ।
ताहि भजौं दृढ़ प्रेम करि, यहै कृपा अब होहि ॥६॥
सुनि कै अधिक प्रसन्य ह्वै, विपुल प्रसंसा कीन्ह ।
दिढ ह्वै भजन करौ सदा, बहु सिख आसिख दीन्ह ॥७॥

[चरित्र, पृष्ठ २४-२५]

गुरुभाई

विचारने की बात है कि यहाँ नंददास का 'स्वरूप-परिवर्तन' से कोई नाता नहीं। हाँ, इस 'हास' का लगाव कुछ उससे अवश्य है। भवानीदास ने नंददास को तुलसीदास का कदाचित् 'गुरुभाई' ही माना है। कारण कि इस प्रसंग का नाम छपा है—

अथ नंददास गुरभाई प्रसंग ।

और आरंभ में परिचय में लिखा है—

कान्ह कुब्ज एक विप्र नगर कनउज ढिग बासी ।
श्रीगोसाईं गुरबंधु रहै श्रीकृष्ण उपासी ॥
नंददास सुभ नाम स्वक्ष कृत पद जग गावै ।
और कुटुंबी बिप्र भक्त पछ देखि सतावै ॥

बिबिधि भाँति इरखा करहिं, पार न पावै बंक वै ।
तब मृतक गऊ निसि द्वार द्विज, डारी वृथा कलंक दै ॥ १ ॥
भोर भयौ अपराध लाइ सब मिलि दिज घेरो ।
कंपमान है दास भक्त बछल तन हेरो ॥
अब प्रभु कछु न बिसाइ लाज बाने की करिए ।
होइ खलन को मान भंग हम साँसति तरिए ॥
करुनाकर गाइ जियाइ तब, दास सुजस जग बिस्तरे ।
खल त्रास मान सब चेत ह्वै, आनि भक्त चरनन परे ॥ २ ॥

[चरित्र, पृष्ठ २३–४]

अस्तु । नन्ददास को गोस्वामी तुलसीदास का गुरुभाई कहने की एक स्वतंत्र परंपरा है । परंतु यहाँ विस्मय की बात यह है कि इस नंददास के साथ भी 'मृतक गऊ' का प्रसंग आ गया है । वैसे तो उसका संबंध किसी और ही 'नंददास' से जोड़ा जाता है । प्रियादास ने उसके परिचय में कहा है—

निकट बरैली गाँव, तामैं सो हवेली, रहैं
नन्ददास विप्र भक्त, साधु-सेवा-रागी है ।

[भक्तमाल, पृ० ४५७]

ऐसी स्थिति में भवानीदास का कथन कहाँ तक मान्य होगा ? यह चिन्ता का विषय है । साथ ही यह भी स्पष्ट रहे कि प्रियादास ने जहाँ 'निकट बरैली गाँव' का उल्लेख किया है वहाँ भवानीदास ने नगर कनउज ढिग बासी' का । इसलिए यह भेद और भी विचारणीय हो गया है । हाँ, नाभादास ने इस 'नंददास' के विषय में जो कुछ कहा है यह है—

स्थान की उलझन

नंददास आनंदनिधि, रसिक सु प्रभुहित रँगमगे।
लीला पद रस रीति ग्रंथ रचना में नागर॥
सरस उक्तिजुत जुक्ति भक्ति रस, गान उजागर।
प्रचुर पयध लौ सुजस 'रामपुर' ग्राम निवासी॥
सकल सुकुल संवलित भक्त पद रेनु उपासी।
चन्द्रहास अग्रज सुहृद, परम प्रेम पै मै पगे।
नंददास आनंदनिधि, रसिक सुप्रभुहित रँगमगे॥

[भक्तमाल, पृ० ६९६]

नाभादास के इस छप्पय के 'चन्द्रहास' को लेकर जो ऊहा मची है उसको हो लेने दें तो अच्छा। निवेदन अभी यह है कि यहाँ यदि 'नन्ददास' का संबंध ही इष्ट था तो 'तुलसी' के समकालीन 'नाभा' उनका गोत ही क्यों भूल गए? और इस 'चन्द्रहास' का पता? है तो बस सोरों-सामग्री को है। देखिए न काशी के श्री ब्रजरत्नदास क्या लिखते हैं। पता नहीं कितनी खोज के बाद कहते हैं—

चन्द्रहास का पता

उस समय चंद्रहास नाम का कोई ऐसा प्रसिद्ध व्यक्ति और उस पर नंददास जी से बढ़कर प्रसिद्ध व्यक्ति नहीं पाया जाता, जिसका उल्लेख कर नंददास जी का परिचय दिया जा सके। राजनीतिक या साहित्यिक इतिहासों या भक्त-शृंखला, किसी में तत्कालीन किसी प्रसिद्ध व्यक्ति का यह नाम नहीं मिलता। स्वभावतः किसी विशिष्ट पुरुष से संबंध बतलाकर परिचय देने की प्रथा अवश्य है पर चंद्रहास के ऐसा पुरुष होने का कहीं कुछ पता नहीं है। इसलिए भाई भाई का संबंध बतलाना ही ठीक ज्ञात होता है।

[नंददास-ग्रंथावली, पृष्ठ—११]

परंतु प्रश्न यह है कि क्या वास्तव में इस प्रदेश में ऐसा नाम पाया भी जाता है और क्या सचमुच नाभादास ने इसका उपयोग व्यक्ति के रूप में किया भी है। तुलसीदास और 'नंददास' के साथ इस 'चंद्रहास' का तुक क्या? कहाँ 'दास' और कहाँ 'हास'! हाँ, तुलसीदास को किसी 'चंद्रहास' का पता है। तभी तो 'मानस' में लिख जाते हैं—

चंद्रहास हर मम परितापं। रघुपति बिरह अनल संजातं।
सीतल निसि तव असि वर धारा। कह सीता हरु मम दुख भारा॥
[रामचरितमानस, पंचम सोपान, दो० १०]

अब यदि इसी लगाव के नाते उनके अनुज का नामकरण 'चंद्रहास' हो गया तो ठीक अन्यथा इस कल्पना में कोई तुक नहीं। हमारी समझ में तो 'नाभादास' के 'चंद्रहास' का सीधा अर्थ है (चन्द्र = कर्पूर अथवा चन्द्रमा की भाँति + हास हो जिसका) प्रफुल्ल, प्रसन्नचित्त। और इसी प्रकार 'अग्रज' का अर्थ है (अग्र + ज) ब्राह्मण।

वार्ता की दृष्टि

कुछ भी हो, कहना हमें यह था कि वास्तव में 'तुलसीदास' ही नहीं उनके साथ ही उनके तथाकथित नामधारी अनुज 'नंददास' की भी मिट्टी पलीद हुई है 'वार्ता' में। बात यदि न जमे तो स्वयं वार्ता का अध्ययन कर देखें। उदाहरण के लिए 'वार्ता प्रथम' का एक 'दृष्टांत' लें। नंददास 'मथुरा' से 'श्रीरणछोर' जी की सेवा में चुपचाप अकेले ही चल पड़े और मार्ग में छत पर एक 'क्षत्री की स्त्री' को 'केश सुखावत' क्या देखा व्रत ले लिया कि

अब तो या स्त्री कौ मुख देखूँ तब जलपान करूँ।

फिर क्या था, इसी चिन्ता में 'सगरी रात्रि व्यतीत भई' और 'प्रातःकाल' होते ही—

सो देह-कृत्य करिके, दंतधावन करिके, सेवा सुमिरन करिके वा क्षत्राणि के द्वार ऊपर जाइ बैठे, सो तीन पहर व्यतीत होइ गए।

'तीन पहर' तक उस पर किसी की दृष्टि न परी तो कोई बात नहीं। आसक्ति का यही तो सुख है? पर अचरज की बात तो यह है कि उस 'लोंडी' का ध्यान भी इधर नहीं गया जिसने कुछ ही समय उपरांत यह 'दृष्टान्त' सुनाया—

जो—एक समें आपुन सगरे घर के मनुष्य श्री गोकुल में श्री गुसांई जी के दर्शन कों गए हते, तब तुम हू संग हती। तब श्रीगोकुल तें श्रीगुसांई जी श्रीनाथजी द्वार पधारे हते। तब (मैं) तुम (तुम्हरो ससुर) हम सब संग हते।

मलेछानी

सोचिए तो सही इस समय यह 'क्षत्राणी' कितने वर्ष की थी। इस यात्रा में इसकी अवस्था जो कुछ रही हो उसको दृष्टि में रखकर देखिए यह कि जेठ की तपतपाती प्यास में श्रीगुसांई जी की झारी के शीतल जल से जो 'मलेछानी' जी उठी वह—

आछो-आछो मेवा लेके श्रीगुसांई जी की ड्योढ़ी के आगें आइ के बैठती। तब श्रीगुसांई जी सों वीनती करवाई, जो—यह मेवा आप अंगीकार करवाइए।

श्रीगुसांई जी ने 'थोरे दाम' के विना लेना स्वीकार न किया तो वह कुछ दाम लेकर देने पर राजी हो गई और—

सो यही भांति सों अपनो जन्म वितीत कीनो। सो वा मलेछानी के ऊपर श्रीगुसांई जी बहुत प्रसन्न रहते।

कितने दिन यह व्यापार चला, इसका कुछ अनुमान लगा जानिए यह कि—

ता पाछें वा मलेछनी की देह छूटी। तब देह छूटत ही वाकौ जन्म महावन में (ब्राह्मण के घर) भयो। तब वे श्रीगुसांई जी की सेवक भईं। तब यह कृतार्थ भई।

सो कृपा कर यह तो कह दीजिए कि 'झारी' के शीतल जल से जीवन-लाभ करने के पश्चात् वह कितने दिन तक और मेवाफरोसिनी बनी रही और फिर चोला बदल कर कितने दिन में 'कृतार्थ भई'। भाव यह कि जिस समय नंददास की दृष्टि लगी उस समय उसके कितने वसंत बीत चुके थे जो वार्ताकार ने लिख दिया—

तब वा क्षत्री सों नंददास ने कह्यो जो–तुम मोसों कछू कहोगे तो मैं तुम्हारे ऊपर प्राण-त्याग करूंगी।

'नंददास' के खोजी कहते हैं कि नंददास इस समय १६ वर्ष के थे। आशा है, भविष्य में उनसे यह भी सुनने को मिलेगा कि वह क्षत्राणी इस समय (?) वर्ष की थी।

वार्ता की वृत्ति

अपने राम का मत यह है कि यह घटना नहीं दृष्टांत है और है इतिहास नहीं 'वार्ता'। देशकाल के अनुसार बात बना लेना ही इसका लक्ष्य है कुछ किसी के जीवन को खड़ा करना नहीं। तो भी इतना तो निश्चित ही समझिए कि 'वार्ता' के मतानुसार तुलसी 'पूरब' के ही ठहरते हैं कुछ 'पछाँह' के कदापि नहीं।

'वार्ता' की मनोवृत्ति तो देखिए। उसमें कहा गया है—

पाछें तुलसीदास ने श्रीगुसांई जी पास आइके दंडोत करी, और हाथ जोरि के विनती करी जो–महाराज! पहिले तो नंददास बड़े विषई हते, परि अब तो आप की कृपा तें बड़ो भगवदीय भयो है। जो अनन्य भक्ति याकों भई है। सो ताको कारन क्या है?

तब श्रीगुसांई जी ने तुलसीदास कों आग्या करी, जो–यह नंददास तो उत्तम पात्र हतो। सो यह पुष्टिमार्ग में आइ के प्रवृत्त भयो है। तातें याको व्यसन अवस्था ह्वै रही है।

तब श्रीगुसांई जी के बचन सुनिके तुलसीदास बोहोत प्रसन्न भए। पाछें श्रीगुसांई जी तें विदा होइ के अपने देश कों गए। और नंददासै ने हू फेरि तुलसीदास कौ नाम हू न लियौ।

[अष्टछाप, पृष्ठ ५७६]

सं० १६९७ की 'वार्ता' यह है तो सं० १७५२ की यह—

ता पाछें तुलसीदास ने श्रीगुसांई जी सों दंडवत करिके कह्यो–जो महाराज! नंददास तो पहिले बड़ो विषयी हतो, सो अब तो याकों बड़ी अनन्य भक्ति भई है, ताकौ कारण कहा है?

तब श्रीगुसांई जी ने तुलसीदास सों कह्यो जो–नंददास उत्तम पात्र हुते, यातें पुष्टि-मार्ग में आइके प्रवृत्त भए। और अब व्यसन अवस्था याकों सिद्ध भई हैं, सो अब वे दृढ़ भए हैं। तब श्रीगुसांई जी के श्रीमुख के वचन सुनिके तुलसीदास प्रसन्न होइ श्रीगुसांई जी को दंडवत् करिके पाछें आप बिदा होइ काशी आए।

[वही, पृष्ठ ५८०]

तुलसी के इष्ट

किंतु 'काशी' आकर भी उक्त 'कृपा' से मुक्त नहीं हुए। कहा जाता है कि 'गोपाल-मंदिर' की एक कोठरी में बैठकर उन्होंने 'विनय-पत्रिका' के कुछ पद रचे, हो सकता है, किंतु तुलसी का हा वचन यह भी तो है—

आगम बेद पुरान बखानत, मारग कोटिन जाहिं न जाने।
जे मुनि ते पुनि आपुहि आपु को ईस कहावत सिद्ध सयाने॥

धर्म सबै कलिकाल ग्रसे, जप जोग बिराग लै जीव पराने।
को करि सोच मरै; तुलसी, हम जानकीनाथ के हाथ बिकाने ॥१०५॥
[कवितावली, उत्तर०]

बिकने को तुलसीदास 'जानकीनाथ' के हाथ बिक तो गया किंतु उनका साक्षात् दर्शन स्वयं नहीं कर सका। नहीं, यह सौभाग्य तो प्राप्त हुआ ऐसे अनुज श्री नंददास की कृपा से। 'वार्ता' का 'रंग' तो देखिए। किस लाग की बानी है—

जब तुलसीदास दर्शन करिके बाहर आए, तब नंददास श्रीगोकुल चले। तब तुलसीदास हू संग संग आए। तब आइके नन्ददास ने श्री गुसांई जी के दर्शन करि साष्टांग दंडवत करी, और तुलसीदास ने दंडवत करी नाहीं।

पाछें नन्ददास कों तुलसीदास ने कही जो—जैसे दर्शन करि तुमने वहां कराए वैसे ही यहाँ करावो। तब नंददास ने श्रीगुसांई जी सों बिनती करी—ये मेरे भाई तुलसीदास हैं, सो श्रीरामचन्द्र जी बिना और कों नहीं नमे हैं।

तब श्रीगुसांई जी ने कही जो—तुलसीदास जी ! बैठो।
[अष्टछाप, वार्ता पंचम, पृष्ट ४७९]

तुलसीदास को श्री गुसांई जी के यहाँ जो इतना मंगल संमान मिल गया उसका कारण कुछ है ही। तुलसीदास भी तो इसी कुल का भ्रांत भक्त है न ? आगे की बात है—

ता समै श्रीगुसांई जी के पांचमे पुत्र श्रीरघुनाथ जी वहाँ ठाढ़े हुते, और उन दिनन में श्रीरघुनाथ जी कौ विवाह भयो हतो। जब श्रीगुसांई जी ने कही जो—श्रीरामचंद्र जी ! तुम्हारे सेवक आए हैं, इनकों दर्शन देवो। तब श्रीरघुनाथलाल जी ने तथा श्रीजानकी बहू जी

ने श्रीरामचन्द्र जी कौ तथा श्रीजानकी जी कौ स्वरूप धरि के दर्शन दिए। तब तुलसीदास ने साष्टांग दंडवत करी।

[वही पृष्ठ, ५८०]

'वार्ता' में तुलसीदास की चाहे जैसी गति बने पर बनाई जा रही है, उसी तुलसीदास की जो उक्त 'श्रीगुसांई जी' से मान-मर्यादा में उस समय भी कहीं अधिक समझा जाता जिस समय कि 'वार्ता' के धनी जीवित थे। 'वार्ता' को वर्तमान रूप कब मिला और उसका सच्चा 'वक्ता' या 'कर्ता' कौन है, आदि प्रश्नों से यहाँ कोई प्रयोजन नहीं, वह सर्वथा प्रामाणिक वा अप्रामाणिक है, यह भी प्रसंग के बाहर की बात है। वह जो कुछ और जैसी भी है उसके आधार पर हमें कहना यही है कि उसके तुलसीदास 'काशी' के तुलसीदास हैं। 'अवध' अथवा 'अयोध्या के प्रति उनकी ममता अवश्य है, पर कभी वहाँ जाकर वे रहे भी, ऐसा नहीं भासता। किसी 'सोरों' से भी कभी उनका कोई लगाव था, इसकी तो गंध भी वहाँ नहीं मिलती। हाँ, 'सोरों' का नाम अवश्य 'वार्ता' में आ गया है 'सोरों' के रूप में ही कुछ 'सूकरखेत' के रूप में नहीं। परंतु उस वार्ता से तुलसी का कोई लगाव नहीं और नहीं है कोई संबंध उससे उनके छोटे भाई 'नंद' का भी। निदान विवश होकर कहना पड़ता है कि 'सोरों-सामग्री' 'वार्ता' के प्रतिकूल आचरण करती है और 'पूरब' का अपूर्व अर्थ लगा अपनी आशा पर पानी फेरती है।

वार्ता के तुलसीदास

हाँ, प्रसंगवश यह भी जान रखिए कि 'वार्ता' की दृष्टि में 'राजापुर' नहीं। क्यों? 'महाप्रभु' वल्लभाचार्य जी 'अडेल' में रहते थे और 'श्रीगुसांईजी' महाराज भी पहले प्रायः वहीं विराजते

थे और जब-तब यमुना-मार्ग से 'मथुरा' आते-जाते रहते थे। तो कोई कारण नहीं कि कभी उनकी 'वार्ता' 'राजापुर' पर भी कृपा-दृष्टि न कर देती और वहाँ के तुलसीदास को भी किसी दिव्य साक्षात्कार का दर्शन न करा देती। कहने का भाव यह कि वार्ता को केवल 'काशीवासी' तुलसी का पता है कुछ और कहीं के तुलसी का नहीं।

जी, इसी तुलसी को नीचा दिखाने के लिए 'वार्ता' खड़ी हुई है। उसके नंददास काव्य के नंददास नहीं कहे जा सकते। सच तो यह है कि 'वार्ता' को न तो तुलसी की मान-मर्यादा का ध्यान है और न 'नंददास' की प्रतिष्ठा की चिन्ता। उसे तो ले-दे के बस 'पुष्टि' को पुष्ट करना और 'श्री गुसांई जी' को आसमान पर चढ़ाना है। अन्यथा नंददास को काव्य और साधना की दृष्टि से तुलसीदास का छोटा भाई कहना सर्वथा साधु है। उन्हें तुलसी का मधुर रूप ही समझिए। ऐश्वर्य और माधुर्य की यह जोड़ी धन्य है। इसका जो परिचय 'चरित्र' में प्राप्त है स्तुत्य है 'वार्ता' की भाँति निंद्य नहीं। 'वार्ता' जैसी कदर्थना तुलसी की अन्यत्र कहाँ?

———

३—तुलसी का सूकरखेत

प्रश्न उठता है कि भवानीदास के मतानुसार तुलसी का सूकर-चरित्री सूकरखेत खेत कहाँ है। हम 'चरित्र' की भाषा में निवेदन करना चाहते हैं कि—

अवध वास बहु काल करि, लाहु जन्म को लीन्ह।
सह समाज निज गवन तब, नीमषार कह कीन्ह॥
प्रथम रुन्हाई लखि अनादि थल बासा कीन्हो।
श्री रविकुल अंबरीक नृपति सुकृती जिन्ह चीन्हो॥
जासु तनै चक्कवै मानधाता जस राजत।
सुनि रावन चढ़ि गयौ दैत आयौ जह गाजत।
सुइ रावनादिक पक्षिन जित्यौ भयौ पराजय तासु जब।
सो विजई अस्थान लखि धरौ रौन्हाई नाम तब॥
दुतिय बास अघ नास किय, पावन सूकरखेत।
त्रयजोजन जो अवध ते, दास दरस सुख हेत॥१॥
जहाँ श्री गुरु नरसिंह सन, सुनी कथा लहि ज्ञान।
सो अनादि तीरथ बिदित, सगुन देव अस्थान॥२॥
श्री नारायन जगतपति, जग हित जक्त अधार।
धारो बपु बाराह जब, आदि पुरुष औतार॥३॥
सब्द घुरुघुरा ते भयौ, घाघर सरित प्रवाह।
देव जक्ष गंधर्व सब, अस्ति प्रलोवत ताह॥४॥
भई विमानन भीर बहु, सत जोजन के फेर।
तब आज्ञा भइ सबन कह, करौं पुन्य थल हेर॥५॥

चली विमानन भीर तब, श्री वाराह समेत।
सरजू संगम घुरघुरा, तह बन सूकरखेत ॥६॥
सत जोजन की सभा भइ, वेद विदित उपचार।
देवन के कारज सकल, कीजे जगत उधार ॥७॥
षट जोजन है अवध ते, पसका सो परमान।
वास कछुक दिन करि तहाँ, चरचा वेद पुरान ॥८॥
तहा ते चलि दुइ कोस ग्राम सियबार कहावै।
सीता जू को धाम ग्राम सो वेदन गावै ॥
बनो अजहु सियकूप अनूपम सुधा पानि जह।
दासन को अवलंब करै परजटन जाय तह ॥
तह रहि तब संगत है बहुरि करि सब तीरथ जहाँ तहँ।
यहि मिसि आये ढिग लखनपुर श्रीहनुमत अस्थान जहँ ॥१॥

[चरित्र, पृष्ठ ६२-३]

'तह बन सूकरखेत' का रहस्य समय पर खुलेगा। एक विशेष भूल छापे की प्रतीत होती है। वास्तव में 'षट जोजन है अवध ते' में 'षट' नहीं पाठ 'त्रय' ही होना चाहिए जैसा कि पहले 'त्रय जोजन जो अवध ते' में आ चुका है।

टीका में सूकरखेत

'चरित्र' के इस 'सूकरखेत' को आज सरकारी दुनिया नहीं जानती तो आश्चर्य क्या? अभी तक तो बहुत से विद्वान् भी इसको नहीं जानते। कुछ भी हो, रामचरितमानस के एक पुराने प्रतिष्ठित टीकाकार की टीका है विवादग्रस्त इस दोहे की—

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सु शूकरखेत।
समुझ नहीं तब बालपन, तब अति रहेउँ अचेत ॥

॥ दोहार्थ ॥ सोई कथा हमारे गुरुन को प्राप्ति भई है को जानै कहां ते सोई कथा मैं अपने गुरुन ते सुनेउ है कथा सु कहै सुष्ट कथा अरु शूकर कहै जो सुष्टपदार्थ को उत्पन्न करै ताको शूकरखेत कही तहां सुष्ट पदार्थ श्रीरामयशगुण चरित्र सो सत्संग उत्पन्न करतु है ताते सत्संगै शूकरखेत है तेही सत्सङ्ग में गुरुन ते सुनते सुनेउ है अथवा शूकरखेत कहे बाराहक्षेत्र श्री अयोध्या के पश्चिम तीनि योजन है सरयू तीर तहाँ सुनेउ है तब मेरी बाल अवस्था रहै अचेत दशा रहै तेही दशा में जस कछु समुझि परेउ सो ग्रहण भयो किंतु शूकरखेत शूकर जो है जैसे भूमि खोदत है जहाँ तहाँ तैसे मोंको बालपने में कछु समुझि परेउ कछु नहीं समुझि परेउ सो ग्रहण भयो है ।

[रामायण तुलसीदासकृत सटीक, पृ० १०६]

टीकाकार अयोध्यानिवासी श्री महंत रामचरण जी ने कृपा कर अपनी टीका का समय भी दे दिया है । लिखते हैं—

सम्बत अष्टादश सुभग सत्तरि अर्द्ध सपाख ।
रामचरण ऋतुराज तिथि पञ्चशुक्ल बैशाख ॥

हमारी दृष्टि में इससे सं० १८५० इसका रचना-काल निकलता है। यह काल शेष सोपानों के रचना - काल से मेल नहीं खाता फिर भी इस जन को यही काल ठीक जँचता है। शेष सोपानों का क्रम से रचना-काल है—

२ : असी एक अरु आठ दश सम्बत सावन पूर ।
अवध कांड को तिलक भो रामचरण रति रूर ॥
३ : सम्बत सत अरु आठ दश असी अवध सिय घाट ।
रामचरण वनकाण्ड को तिलक पूर मति ठाट ॥
४ : सम्बत शत अष्टादशौ असी एक शुक बार ।
ग्रीषम अन्त सु शुक्ल छठि रामचरण कहि पार ॥

५ : असी एक दश आठ शत भाद्र शुक्ल तिथि पाँच ।
अवधपुरी सुंदर तिलक रामचरण रति सांच ॥
६ : सम्बत शत अष्टादशौ असी तीनि ऋतु खास ।
युद्धकांड सुसमाप्त भो रामजन्म मधुमास ॥
७ : उत्तर कांड समाप्त भो सुभग जानकी घाट ।
रामचरण शुभ तिलक कृत जहँ सन्तन के ठाट ॥

परिचारिका का मत

'रामचरण' ने इस तिलक में जो 'शूकरखेत' का अर्थ किया है उसको ध्यान में रख कर देखें यह कि उनके कुछ समय पश्चात् एक दूसरे महानुभाव ने इसकी टीका में लिखा है—

अब जो कोई पूछै कि भला तुम कहां पायो है ता पर कहत हैं कि पुनः वही कथा जो शंभु कीन्ह फेरि काकभुशुण्डिहि दीन तिन्ह से याज्ञवल्क्य पाये ते भरद्वाज प्रति गाये सो कथा कहूँ से हमारे गुरू जी को प्राप्ति भई सो हम अपने गुरू जी से सुना कहां सुना सूकरखेत नाम वाराहक्षेत्र जो श्री अयोध्या जी से पश्चिम भाग में श्री सरयू घाघरा को संगम है तहां पर अथवा सूकर नाम जो सुष्ठु वस्तु को करै सो को है संत संग सो सत् संग क्षेत्र में अपने गुरू से सुनी परंतु समुझी नहीं तस जस श्रीरामचरित्र मानस को स्वरूप है काहे ते कि तब बाल्यावस्था अति अचेत रहेउँ ।

[रामायणमानसप्रचारिका, पृष्ठ १२४]

बिचारने की बात है कि इसका रचयिता स्वयं कहता है—

रामपुरी मंगलमयी देत सकल अहलाद ।
तहां प्रकट आचार्य भे स्वामी रामप्रसाद ॥५॥
श्रीमत्परमाचार्य है तुलसिदास सुखसार ।
श्रीमद्रामप्रसाद जी विदित तासु अवतार ॥६॥

तासु शिष्य के शिष्य हैं तासु शिष्य विख्यात ।
स्वामी हरीप्रसाद ज्यहि देखि गर्व छुटि जात ॥७॥
तासु शिष्य लघु मैं भयों नाम जानकीदास ।
मानस की परिचारिका करन चहौं सुखरास ॥ ८ ॥
श्रीमत् तुलसीदास पद बंदि सुमिरि सियराम ।
मानस की परिचारिका करौं यथा अभिराम ॥ ९ ॥
वर्ण स्वल्प आशय अमित अर्थ करै मन बोधि ।
श्री मानस परिचारिका नाम धरो शुभ शोधि ॥१०॥

परंतु खेद है कि यह संकल्प पूरा न हुआ और प्रकाशन के प्रमाद से इसका नाम छप गया 'रामायणमानसप्रचारिका'। जो हो किसी संवत् के अभाव में इसकी रचना का ठीक समय जानना कठिन था। किन्तु सौभाग्य से 'भूमिका' में उसका दर्शन हो गया। भूमिका-लेखक श्री द्वारकादास परमहंस लिखते हैं–

प्रकट हो कि श्री अयोध्या जी में श्री महाराज रामप्रसाद जी की गद्दी पर जो महन्त श्री हरिउद्धव प्रसाद जी हुए तिनके शिष्य श्रीजानकी-दास जी विख्यात रामायणी तिन्हों ने यह टीका नाम मानसप्रचारिका सम्बत् १९३२ में किया।

अतः स्पष्ट ही इसका रचना-काल सं० १९३२ वि० है। तो फिर पूछा जा सकता है कि यदि यही 'सूकरखेत' की परंपरा है और वस्तुतः 'सरयू-घाघरा-संगम' ही तुलसीदास का अभीष्ट 'सूकरखेत' है तो आज फिर इतनी इसकी चिन्ता क्यों?

सोरों का संघर्ष

क्या कहीं से कुछ और का तौर बन गया है क्या? जी। देखते नहीं हैं कि कहीं से कोई गरज उठी है कि–

सरयू-घाघरा संगम पर वाराह तीर्थ है और वहाँ पूस में स्नान के निमित्त मेला भी लगता है। गोंडा के गजेटियर में इसका उल्लेख नहीं है। हाँ, 'अयोध्या महात्म्य' में इसका उल्लेख है। यह पुस्तक संस्कृत में है, जिसका अंग्रेजी अनुवाद बरेली कालिज के रामनारायण जी ने किया जो 'इंडियन एण्टक्वेरी' में सन् १८७५ ई० में छपा था। श्री एफ० एस० ग्राउस ने अपने रामायणानुवाद का कुछ नमूना 'जनरल ऑव दि एशियाटिक सुसायटी ऑव बंगाल' में सन् १८७६ में छपवाया। उसमें उन्होंने प्रचलित मत के अनुसार सूकर-खेत का अर्थ सोरों (एटा) किया और उसकी व्युत्पत्ति भी की। किन्तु लाला सीताराम इससे असहमत रहे और उन्होंने १९०२ ई० में और पीछे भी लिखा कि रामायणवाला सूकरखेत संगम पर है। विनायकराव जी ने भी १९१५ ई० में अपनी रामायण की टीका में लाला जी का अनुसरण किया। ११७ पृष्ठ पर वे लिखते है—'सूकरखेत (सूकर = वाराह + खेत = क्षेत्र) बाराह क्षेत्र जो अयोध्यापुरी से १२ कोस पश्चिम की ओर सरयू नदी के किनारे है।'

स्व० पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने अपने भ्रम का प्रतिपादन इन जोरदार शब्दों में किया है—"'मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत' को लेकर कुछ लोग गोस्वामी जी का स्थान ढूँढ़ने एटा जिले के सोरों नामक स्थान तक सीधे पश्चिम दौड़े हैं। पहिले-पहल इस ओर इशारा लाला सीताराम ने अयोध्याकाण्ड के स्व-सम्पादित संस्करण की भूमिका में दिया था। उसके बहुत दिनों पीछे उसी इशारे पर दौड़ लगी और अनेक प्रकार के कल्पित प्रमाण सोरों को जन्म स्थान सिद्ध करने के लिए तैयार किए गए। सोरों उपद्रव की जड़ है 'सूकरखेत', जो भ्रम से सोरों समझ लिया गया। 'सूकरक्षेत्र' गोंडे जिले में सरयू के किनारे एक पवित्र तीर्थ है। यहाँ आस-पास के कई जिलों के लोग

क्यों नहीं। इतना ही नहीं 'सोरों' के विषय में उसमें जो कुछ लिखा गया है उससे तो कुछ और ही निष्कर्ष निकलता है। उसके कथनानुसार तो तुलसी के समय में वहाँ 'सीताराम' जी का मंदिर रह भी नहीं गया था। स्यात् कट्टर सिकन्दर लोदी ने उसे तोड़ दिया था। स्थिति कुछ भी हो, कैसी भी हो, पर किसी प्रकार किसी भी दशा में यह कहा नहीं जा सकता कि उक्त 'गजेटियर' की दृष्टि में तुलसी का सोरों से कुछ लगाव भी है। क्यों ? हम सोरों की समस्त सामग्री से जानना चाहते हैं कि उसमें तुलसी का नाम क्यों नहीं। धाम और 'घरबार' की बात तो अभी अलग ही रखिए।

हाँ, तो ग्राउस साहब का 'सूकरखेत' सोरों है और ग्राउस साहब की ख्याति है 'मथुरा' के कारण। फलतः 'हिन्दी शब्द-सागर' में लिखा गया—

सूकरक्षेत्र—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन तीर्थ का नाम जो मथुरा जिले में है और जो अब 'सोरों' नाम से प्रसिद्ध है।

राष्ट्रचेतना के उदय के साथ इस 'सूकरखेत' का जो लगाव है वह तो समय पर स्पष्ट होगा। अभी जानिए यह कि उसी चरित्र' के साथ उसके पश्चात् ही 'माननीय विद्वान् जी० ए० ग्रियर्सन साहब के भारतवर्षीय साहित्य के इतिहास से उद्धृत किया।' के नीचे छपा दिखाई देगा—

ग्रियर्सन का संकेत

श्री गोसांई तुलसीदास जी।

इसी लेख के पृष्ठ ४ पर आप को पढ़ने को मिलेगा—

भक्तसिंधु और बृहद्रामायणमाहात्म्य ग्रंथों के अनुसार उनके पिता का नाम आत्माराम और माता का नाम हुलसी था। गोसांई जी

हस्तिनापुर में जनमे थे। अन्य लेख से उनका जन्म चित्रकूट के समीप हाजीपुर एक ग्राम में हुआ था; लोग ऐसा भी कहते हैं कि जिला बाँदा में यमुना के तीर राजापुर एक ग्राम है वहाँ उनकी जन्मभूमि थी। बालकपन में वे सूकरखेत (सोरों) में रहे, जहाँ पहले पहल श्रीरामजी की भक्ति में रंगे गए।

[रामचरितमानस, रामदीन संस्करण]

द्वंद्व का उदय

ग्राउस-ग्रियर्सन का यह साहिबी सूकरखेत अपना काम धीरे धीरे कर ही रहा था कि सहसा पंडित रामनरेश त्रिपाठी के मानस का विस्फोट हुआ और सबका ध्यान राजापुर से उचटकर सोरों में जा लगा। सोरों 'रामचरितमानस' का 'सूकरखेत' ही नहीं रहा। नहीं वह, तो विपुल प्रमाण के साथ तुलसी का जन्म-स्थान भी बन गया। साहित्य के पारखी असमंजस में पड़ गए। तुलसी की पंक्ति सोरों में बैठती न थी और सरकारी पक्ष उधर को ही भारी पड़ रहा था। विकट स्थिति का सामना था। 'चरित्री' सूकरखेत साहिबी शासन में कभी का पीछे छूट गया था और 'साहिबी' सूकरखेत ही तुलसी का सूकरखेत माना जाता था। संयोग कुछ ऐसा जुटा कि एक दिन चलती रेलगाड़ी में इस जन को कुछ सूकरखेत के कल्पवासी यात्री मिले। उनके मुँह से जब 'चरित्री' सूकरखेत का पता चला तब तुरंत 'पश्चिम' का जादू उतर गया और सहसा 'पूरब' की सुधि हो आई। स्व० आचार्य शुक्ल जी से जब इसकी चर्चा हुई तब उन्होंने इसका समर्थन किया, उद्धार किया। उनके एक शिष्य श्रीभगवतीप्रसाद सिंह ने आगे चलकर इसपर एक लेख लिखा। फलतः 'सूकरखेत' की जिज्ञासा सबके सामने है

स्व० आचार्य रामचंद्रजी के समर्थन से जिस 'सूकरखेत' को बल मिला वह कभी दुर्बल न पड़ा। हाँ, भले ही कभी उसकी ओर से कोई आंदोलन न हुआ। लाला सीताराम 'अवधवासी' तो सदा उसके पक्ष में रहे। सन १९३२ ई० में फिर उनका यह मत प्रकाश में आया। लिखते हैं—

सूकरखेत का पक्ष

इस जिले (गोंडा) के सरयू और घाघरा के संगम पर वाराह-क्षेत्र है। लोग कहते हैं कि इसी स्थान पर विष्णु जी ने वाराह अवतार धारण किया था। यद्यपि इस प्रतिष्ठा को प्राप्त करने के लिए अन्य तीन स्थान भी दावा करते हैं तथापि इसमें संदेह नहीं है कि यही सूकरक्षेत्र है जहाँ श्री गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामायण की कथा अपने गुरु से सुनी थी।

इसके बीच में पसका गाँव है जहाँ एक मन्दिर बना हुआ है और उसमें वाराह भगवान् की मूर्ति स्थापित है। इसी के निकट संगम है, जिसको त्रिमोहानी कहते हैं। यहाँ सरयू और घाघरा मिली हैं और पौष भर यहाँ कल्पवास होता है, एवं पूर्णिमा को बड़ा मेला लगता है। दूसरी त्रिमोहानी केराघाट पर है जहाँ टेढ़ी और घाघरा का संगम है। यहाँ यमद्वितीया को भी स्नान होता है। इस जगह फलाहारी बाबा ने एक मन्दिर बनवाया है। उनका कथन है कि श्री हनुमान जी का जन्म-स्थल यही है।

[अयोध्या का इतिहास, पृष्ठ १४-५]

लाला सीताराम के प्रायः ६ वर्ष पश्चात् श्री रामबहोरी शुक्ल की शोध सामने आई और आपने भी 'पसका' का पक्ष लिया। आपने लिखा—

वास्तव में सूकरखेत सरयू और घाघरा के संगमपर है। उसे आजकल 'पसका' या 'पसका संगम' कहते हैं। वहाँ मनुष्य के आकार

की वाराह भगवान की एक मूर्ति भी मन्दिर में स्थापित है। वहाँ न जाने कितने दिनों से पौष के महीने में मेला लगता तथा स्नान और कल्पवास होता है। फैजाबाद, गोंडा, बहरायच आदि उत्तरी जिलों के लाखों यात्री वहाँ आते हैं। अयोध्यावासी ही नहीं अन्यत्र के भी रामानन्दी वैष्णव साधु अधिक संख्या में वहाँ पौष में, महीने भर रहा करते हैं। रामानन्द-मत के अनुयायी अपने गुरु के साथ बाल्यावस्था में उस मत के प्रधान तीर्थ अयोध्या जी अवश्य गए होंगे और इसी सूकरखेत या वाराहक्षेत्र में उन्होंने कल्पवास-काल में या मेले के दिनों में वहाँ रहने पर श्रीराम-कथा सुनी होगी। इसलिए मानस में कथित 'सूकर-खेत' के सहारे सोरों (एटा) से मानसकार गोस्वामी जी का जन्म-संबंध स्थापित करना समीचीन नहीं, जैसा आरंभ में ही बतलाया जा चुका है, वहाँ तो श्री वंदन पाठक जी के छप्पय से कुंडलिया रामायण आदि के रचयिता अन्य ही तुलसीदास गुसाईं का जन्म लेना प्रकट होता है।

[वीणा, मई १९३८, पृष्ठ ४४७-८]

साथ ही पादटिप्पणी के रूप में इतना और भी स्पष्ट करते हैं—

(मानस की संतमन उन्मनी) टीका—जिसका उल्लेख आगे किया जायगा—में बालकांड पृ० २०४ में लिखा है—

तत्पश्चात् नैमिणवन के बाराह क्षेत्र नाम स्थान को साथ ही आए। तहाँ कुछ दिन रहे। वहाँ वाल्मीकि, अध्यात्म इत्यादि—रामायण श्रवण कियो। उनकी कृपा करि काव्य-शक्ति भई। (इति बृहद्रामायण माहात्म्य नैमिषारण्य के...वाराह क्षेत्र में जो अयोध्या के पश्चिम ओर है)

१८८९ में बनी इस टीका से भी हमारे विचार की पुष्टि होती है।

[वही, पृष्ठ ५४८]

'सूकरखेत' की यह चर्चा चलती रही और श्री भगवतीप्रसाद सिंह जी ने इसको कुछ ऐसा रूप दिया कि उसे मानस-पीयूष-कार ने इस रूप में उद्धृत किया—

श्री सिंह की शोध

नोट—३ गोस्वामी जी द्वारा मानस में निर्दिष्ट 'सूकरखेत' कौन है जहाँ उन्होंने अपने गुरुदेव से प्रथम-प्रथम मानस की कथा सुनी ?

जिज्ञासा का वहीं समाधान है–

श्रीअयोध्या जी के निकटवर्त्ती भूभाग में 'सूकरखेत' के नाम से प्रसिद्ध प्राचीन सूकरक्षेत्र गोंडा जिले में अयोध्या जी से लगभग तीस मील की दूरी पर उत्तर-पश्चिम कोण पर स्थित है। अवध-तिरहुत रेलवे की 'कटिहार से लखनऊ' जानेवाली प्रधान लाइन पर कर्नैलगंज स्टेशन से यह बारह मील उत्तर पड़ता है। यहाँ प्रति वर्ष पौष की पूर्णिमा को बड़ा भारी मेला लगता है और श्रीअध्योध्या, काशी, प्रयाग, चित्रकूट, नैमिषारण्य एवं हरिद्वार आदि से साधुओं के अखाड़े भी पौष भर कल्पवास करने के लिए आते हैं। यह क्षेत्र पसका राज्य के अन्तर्गत है। मेला पसका से एक फरलांग की दूरी पर लगता है। यहाँ एक मंदिर वराह भगवान् और वाराही देवी का भी है। घाघरा के बहाव की दिशा निरंतर बदलती रहने तथा प्रतिवर्ष बाढ़ के प्रकोप के कारण प्राचीन मूर्ति और मंदिर प्रायः लुप्त हो चुके थे। सौ वर्ष से अधिक हुआ कि राजा नैपालसिंह जी ने नये मंदिर की स्थापना की। देवी भागवत में भी वराह भगवान् और वाराही देवी का उल्लेख आया है। यथा–

वाराहे चैव वाराही सैव सर्वाश्रया सती।...।२५...।
पूर्वरूपं वराहं च दधार स च लीलया।
पूजां चकार तां देवीं ध्यात्वा च धरणीं सतीम्॥ ३३॥

[स्कंध ६, अ० ६]।

सूकरखेत में दोनों की मूर्तियां स्थापित हैं। वाराही देवी या उत्तरी भवानी का मंदिर पसका की उत्तर-पूर्व-दिशा में स्थित है।

गोस्वामी जी का संबंध इसी सूकरक्षेत्र से था, इसका एक प्रमाण यह भी मिलता है कि शूकरक्षेत्र के मंदिर से मिली हुई एक बहुत प्राचीन कुटी है जो अपने आसपास की भूमि से बीस फुट की ऊँचाई पर स्थित है। कुटी के द्वार पर बरगद का एक विशाल वृक्ष है और पीछे एक उतना ही पुराना पीपल का। ये दोनों बाबा नरहरिदास (नरहर्यानंद) के लगाए कहे जाते हैं और यह कुटी भी उन्हीं की है। यह वहाँ के वर्त्तमान अधिकारी बाबा रामअवधदास ने बताया और संतसमाज में भी यही ख्याति है।

बाबा रामअवधदास नरहरिदास जी की शिष्यपरंपरा की दसवीं पीढ़ी में हैं। इनका कथन है कि इस गद्दी के संस्थापक श्री नरहरिदास जी की साधुता पर मुग्ध होकर उनके समकालीन पसका के राजा धौकतसिंह ने कुछ वृत्ति दी थी जो अब तक वैसी ही उनकी शिष्य-परंपरा के अधिकार में चली आती है। मेरे विचार में तो गोस्वामी जी के गुरुदेव की स्मृति भी अब तक उसी भूमि (वृत्ति) के कारण सुरक्षित रह सकी है, नहीं तो एक दो पीढ़ियों के बाद ही उसका भी चिन्ह मिट जाता। उस भूमि पर आज भी लगान नहीं लिया जाता। पसका राज्य के पदाधिकारी उपर्युक्त कथन की पुष्टि करते हैं। वृत्तिदाता तथा भोक्ता दोनों की परंपरा अब तक अविच्छिन्न रूप से चली आती है।

गोस्वामी जी के पसका वा सूकरखेत आने की बात इस प्रकार भी सिद्ध होती है कि बाबा वेणीमाधवदास, जो 'गोसाईं-चरित' के परंपरा से प्रसिद्ध रचयिता हैं, पसका के ही निवासी थे। 'शिवसिंह सरोज' तथा यू० पी० डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, गोंडा डिस्ट्रिक्ट, दोनों इसकी पुष्टि करते हैं। 'सेंगर' ने स्वयं 'गोसाईं चरित' देखा था तभी तो वे लिखते हैं कि—

'इनके (तुलसी के) जीवन-चरित्र की पुस्तक श्री वेणीमाधवदास कवि पसका ग्रामवासी ने, जो इनके साथ रहे, विस्तारपूर्वक लिखा है। उसके देखने से इन महाराज के सब चरित्र प्रकट होते हैं। इस पुस्तक में की ऐसी विस्तृत कथा को हम कहां तक वर्णन करें।'

तुलसी या उनके परिचित किसी अन्य महानुभाव के जीवन से संबंध आज तक किसी अन्य पसका गाँव का उल्लेख साहित्य के इतिहास में नहीं मिलता। डिस्टिक्ट गजेटियर लिखता है—

One or two Gonda worthies have attained some measure of literary fame, Beni Madho Das of Paska was a disciple and companion of Tulsi Das whose life he wrote in the form of poem entitled the Goswami-Charita.

District Gazetteer of Gonda By W. C. Benett.

उपर्युक्त दोनों ग्रंथ 'शिवसिंह सरोज' और डिस्ट्रिक्ट गजेटियर' उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में उस समय लिखे गए थे जब 'सूकरखेत' की स्थिति एक प्रकार से सर्वमान्य होकर वर्तमान वर्गों के दुराग्रह से एक समस्या नहीं बना दी गई थी और न उनके लेखक विद्वानों पर, जिनमें एक अंग्रेज महाशय भी थे, किसी प्रकार का सांप्रदायिक अथवा वैयाक्तिक स्वार्थों का दोष ही लगाया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त मानस की भाषा ही इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि अवश्य ही तुलसी ने अयोध्या के निकट अपने प्रारंभिक जीवन का अधिकांश भाग व्यतीत किया था, क्योंकि किसी स्थान की भाषा उसी अवस्था में पूर्णरूपेण ग्रहण की जा सकती है।

गांडा जिले का शूकरक्षेत्र आज भी 'सूकरखेत' के नाम से ही, जिस रूप में उसका उल्लेख रामचरितमानस में हुआ है, प्रसिद्ध हैं। यह

बात बड़े मार्के की है। 'सोरों' 'शूकर' का अपभ्रंश हो सकता है, और वराहावतार का किसी कल्प में स्थान भी, किंतु उसे तुलसी का 'सूकर-खेत' कहना एक बहुत बड़ी साहित्यिक तथा ऐतिहासिक भूल है।

यह भी बता देना आवश्यक है कि उकार की मात्रा का प्रयोग आज भी पसका के रहनेवाले बोलने में बहुत करते हैं जैसा कि 'मानस' में भी है। जैसे कि रासु, भरतु, इत्यादि।

सूकरखेत को वराहावतार का स्थान सिद्ध करनेवाले मुख्य प्रमाणों में 'शूकरक्षेत' नाम के अतिरिक्त 'पसका' तथा 'घाघरा' नदी के नाम विशेष सहायक हैं। पसका = पशुका = वह स्थान जहाँ पशु रहते हैं।

= वह स्थान जहाँ भगवान ने पशुरूप धारण किया था = शूकर-क्षेत्र। अथवा,

पसका = पशुकः = पशु एव इति (पशुप्रधान) = कुत्सितः पशुः।

(कुत्सित पशु अर्थात् सूकर)

अथवा, भगवान जब अधिक समय तक रसातल से न लौटे तब अनिष्ट की आशंका से ऋषियों ने यहाँ उपवास किया था जिससे इस स्थान का नाम 'उपवासकाः' पड़ा जो धीरे-धीरे पवासका, पासका, पसका हो गया। 'घाघरा' 'घुरघुर' शब्द का अपभ्रंश माना जाता है। क्रोधावेश में हिरण्याक्ष के बध के समय वराह भगवान बड़े ऊँचे स्वर से 'घुरघुर' शब्द करते हुए निकले थे, इससे नदी का नाम घाघरा पड़ा। (श्री भगवतीप्रसाद सिंह जी)

[मानस-पीयूष, द्वि० सं०, भाग १, पृष्ठ ५०५–७]

श्री भगवतीप्रसाद सिंह जी ने जिस कुटी का उल्लेख किया है उसके निर्माता 'नरहरिदास' थे और उन्हें पसका-राज्य से 'माफी' मिली थी इसमें कुछ विशेष विवाद नहीं।

नरहरि की भ्रांति

किंतु यह सत्य है कि उक्त नरहरिदास गोस्वामी जी के गुरु नहीं। हाँ, अग्रदास के

अखाड़े के प्राणी हैं और फलतः हुए भी हैं उनके बहुत बाद में। इस समय इसकी जाँच चल रही है। आशा है इसके वर्तमान अधिकारी श्री जगदेवदास जी इसकी स्थिति को अधिक स्पष्ट कर सकेंगे।

संगम की महिमा

सच तो यह है कि इस क्षेत्र का महत्त्व अभी नहीं आँका गया है। हमारी समझ में इसको 'अयोध्या' और 'नैमिषारण्य' से अलग करके नहीं देखा जा सकता। दोनों के मध्य में इस संगम का संस्थान है। इसके विषय में टाँकने की बात है—

सरयू और घाघरा के संगम में दस कोटिसहस्र तथा दस कोटिशत तीर्थ हैं। उस संगम के जल में स्नान करके एकाग्रचित्त हो देवताओं और पितरों का तर्पण करे तथा अपनी शक्ति के अनुसार दान दे। फिर वैष्णव मंत्र से हवन कर के पवित्र होवे। अमावस्या, पूर्णिमा, दोनों द्वादशी तिथि, अयन और व्यतीपात योग आने पर संगम में किया हुआ स्नान विष्णु-लोक प्रदान करनेवाला है। विष्णुभक्त पुरुष, भगवान् विष्णु की पूजा करके उन्हीं की लीला-कथा का श्रवण करते हुए विष्णु-प्रीतिकारक गीत, वाद्य, नृत्य तथा पुण्यमयी कथा-वार्ता के द्वारा रात्रि में जागरण करे। तत्पश्चात् प्रातःकाल विधिपूर्वक श्रद्धा से स्नान करके भगवान् विष्णु का पूजन करे और ब्राह्मणों को यथाशक्ति सुवर्ण आदि दान करे।

['कल्याण' संक्षिप्त स्कंद-पुराणांक, पृ० ३६७]

'कथा-वार्ता' को 'कथा सो सूकरखेत' में क्यों न चरितार्थ देखा जाय ?

सो सोरों के प्रमाण के समीक्षण में उधर डा० माताप्रसाद गुप्त 'सूकरखेत' के प्रसंग में लिखते हैं—

आठवाँ प्रमाण इस तर्क के आधार पर है कि यदि सूकर (सोरों) खेत उनका जन्मस्थान नहीं था, तो तुलसीदास अपने बालपन में जब वे 'अति अचेत' थे, वहाँ कैसे पहुँच गए। उत्तर में

डा० गुप्त का मनन

अधिकतर यह कहा गया है कि 'सूकरखेत' अयोध्या के निकट वह स्थान है जहाँ सरयू और घाघरा का संगम है, और जो अब पसका कहलाता है। प्रत्युत्तर में सोरों के लेखकों ने अपने नगर की प्राचीनता और तीर्थस्थानों में उसकी महत्ता विस्तारपूर्वक सिद्ध की है। इसमें सन्देह नहीं कि सोरों एक प्राचीन स्थान और तीर्थ है। प्रस्तुत लेखक ने स्वतः वहाँ के एक सुरक्षित स्थान में तेरहवीं शताब्दी विक्रमीय के इस प्रकार के लेख देखे हैं जिनमें सोरों-यात्रा का उल्लेख हुआ है। पस्कावाले 'सूकरखेत' की प्राचीनता कितनी है, निश्चयपूर्वक इस संबंध में वह कुछ नहीं कह सकता।

किंतु सोरों का प्राचीन नाम 'सौकरव' था, सूकरखेत नहीं। अपने विस्तृत प्रमाणों में सोरों के विद्वान् एक भी ऐसा नहीं दे सके हैं जिससे यह सिद्ध हो सके कि तुलसीदास के समय तक भी, यदि और पूर्व न सही, इसका नाम 'सूकरखेत' या 'सूकरक्षेत्र' था। 'सूकरक्षेत्र' के पक्ष के जितने भी प्रमाण हैं, वे सब के सब 'मानस' की रचना-तिथि से एक शताब्दी से भी अधिक बाद के हैं। इसका अपवाद केवल सोरों की उस सामग्री से मिलता है जिसकी परीक्षा पिछले अध्याय में हुई है, और जो उक्त परीक्षा के अनंतर सर्वथा अविश्वसनीय प्रमाणित हुई है। एक बात अवश्य है : इस बात के लिए प्रमाण यथेष्ट है कि कवि जिस समय अपने जीवन-प्रभात में ही माता-पिता से हीन और अनाथ होकर दीन और दुखी भटक रहा था, उस समय वह संतों के संपर्क में आया। ये संत रामभक्त थे, और इन्हीं के उपदेशों से उसे राम-भक्ति के लिए यथेष्ट प्रेरणा मिली। फलतः यदि सोरों ही वस्तुतः उल्लिखित

'सूकरखेत' रहा हो, तो क्या यह संभव नहीं है कि संतों का वह समुदाय जिससे हमारे कवि को राम की शरण में जाने की यथेष्ट प्रेरणा मिली, कभी उस 'सूकरखेत' की यात्रा के लिए निकला हो—अथवा किसी ऐसे अन्य तीर्थ जैसे मथुरा-वृन्दावन की यात्रा के लिए निकला हो, जो उस 'सूकरखेत' से दूर न रहे हों, और उसी सिलसिले में इसने उस 'सूकरखेत' की भी यात्रा की हो।

[तुलसीदास तृ० सं०, पृष्ठ १५७]

कल्पना की कुदान का अन्त कहाँ ? आठवाँ वह प्रमाण है—

त्रिपाठीजी की उलझन

किसी चरित-लेखक ने राजापुर (बाँदा) को, किसी ने तारी को, किसी ने हाजीपुर (चित्रकूट) को और किसी ने हस्तिनापुर को तुलसीदास का जन्म-स्थान माना है। पर किसी ने इस शंका का समाधान नहीं किया कि तुलसीदास जब बहुत बालक और अति अचेत थे (यथा—

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकरखेत।
समुझी नहिं तस बालपन तब अति रहेउँ अचेत ॥)

तब वे सूकरखेत कैसे पहुँचे। यदि यह मान भी लिया जावे कि वे मँगते के लड़के थे, घर से भीख माँगते हुए उधर निकल गए होंगे, तो इस प्रश्न का हल होना और भी कठिन हो जायगा कि काशी और प्रयाग जैसे निकटवर्त्ती शहरों और तीर्थस्थानों की अपेक्षा सूकरखेत में उनके लिए कौन सा विशेष आकर्षण था। सूकरखेत मँगतों का कोई खास अड्डा तो था नहीं; और राजापुर या तारी जैसे गाँव वालों ने तो शायद सूकरखेत का नाम भी न सुने होंगे।

[तुलसीदास तृ० सं०, पृष्ठ १५३ : उद्धृत]

'शंका' और समाधान आपके सामने है और निर्णय आपके हाथ में। परन्तु आपको यहीं यह जान लेना होगा कि जिन 'चरित-लेखकों' का यहाँ निर्देश हुआ है वे इसी साहिबी या अँगरेजी काल के प्राणी हैं। तुलसी के प्राचीन चरित-लेखक तो 'जन्म' की कौन कहे, उनके 'बालपन' की भी चर्चा नहीं करते और न जाने क्यों 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' को पी सा जाते हैं। फिर भी आज के समीक्षक इस पर ध्यान नहीं देते और इधर-उधर के जंजाल की जाँच कराते फिरते हैं।

चरितलेखक

हाँ, तो तुलसी के प्राचीन चरित-लेखकों ने एक स्वर से उनके बालपन की उपेक्षा की है, देखिए न, प्रियादास कहते हैं—

बालपन की उपेक्षा

तिया सों सनेह, बिनु पूछे पिता गेह गई,
भूली सुधि देह, भजे वाही ठौर आए हैं।
बधू अति लाज भई, रिसि सी निकसि गई,
प्रीति राम नई, तन हाड़ चाम छाए हैं।
सुनी जब बात, मानौ होइ गयौ प्रात, वह
पाछे पछितात, तजि, 'काशीपुरी' धाए हैं!
कियौ तहाँ बास, प्रभु सेवा लै प्रकास कीनौ,
लीनौ दृढ़ भाव, नैन रूप के तिसाए हैं॥

[श्रीभक्तमाल सटीक, पृष्ठ ७५९]

और। और भवानीदास तो और भी अद्भुत कला दिखाते हैं। देखिए तो सही, किस रंगमें कह जाते हैं—

श्री हनुमंत प्रसंग सुभ, प्रथम चरित बिस्तार।
लह्यो गोसांई दरस रस, बिदित सकल संसार॥

[चरित्र, पृष्ठ १३]

बस हो गया तुलसी का 'बालपन' क्या गृहस्थ-जीवन। हाँ, राजा रघुराज सिंह ने कुछ साहस कर इतना अवश्य लिख दिया कि—

राजापुर यमुना के तीरा। तुलसी तहँ बसै मति धीरा।
पंडित सकल शास्त्र विज्ञाता। विद्या में विश्वास अघाता॥
भो विवाह आई जब नारी। तासों अतिशय नेह पसारी॥
आयो तियहिं लिवावन भाई। करी न तुलसी तियहिं बिदाई॥
नैहर हित तिरिया बिरझानी। तदपि न कह्यो तासु कछु मानी॥
आप गये कछु काज बजारा। तब भाई लै भगिनि सिधारा॥

[श्रीभक्तमाला, पृष्ठ ७८२]

फिर जो कुछ हुआ उसका किसी न किसी रूप में थोड़ा-बहुत पता सबको है। निदान उसे छोड़ बताया यहाँ यह जाता है कि उसके परिणामस्वरूप—

नारि बयन शर सम उर लागे। पूरब सकल पुण्य फल जागे॥
तुलसिदास कह मानि गलानी। है सति है सति तिय तुव बानी॥
बहुरे तुरत मूक की नांई। गे काशी तजि भवन गोसांई॥
बिनती किय विश्वेश्वर पाहीं। रामभक्ति दीजै मोहिं काहीं॥

गुरु नरहरिदास　　यहाँ तक तो कोई बात न थी। आपने भी इसे चुपचाप पढ़ लिया। परंतु यह क्या ?

सूकर क्षेत्र गयो पुनि सोई। गुरु कियो तहं अति मुद मोई॥
गुरु को अति सेवन तहँ ठायो। रामायण अध्यात्महि पायो॥
तुलसीदास आय पुनि काशी। भे अनन्य रघुनाथ उपासी॥

प्रश्न उठता है कि यह 'सूकर क्षेत्र' कहाँ है। 'काशी' छोड़ कर 'सूकर क्षेत्र' का यह प्रस्थान कैसा ?

'सूकर क्षेत्र' के विषय में तो नहीं, हाँ, गुरु के विषय में उक्त राजा साहब का संकेत है—

शिष्य अनंतानंद के, नरहरिदास सुजान।
तासु कथा वर्णन करौं, अवशि अनंद निधान ॥ १ ॥

और कथा-वर्णन के उपरांत आप ही कह जाते हैं—

सोई नरहरिदास प्रभु, जाको सुयश प्रकास।
जासु शिष्य जग विदित भो, स्वामी तुलसीदास ॥ २ ॥

[वही, पृष्ठ ६२१]

उधर भवानीदास का कथन है—

पुनि श्री अनंतानंद जी कृष्णदास पौहारि पुनि।
श्री अग्रदास रघुनाथ प्रिय गावत जिनके जगत गुन ॥ १ ॥

[चरित्र, पृष्ठ १३]

कहने का तात्पर्य यह कि गोस्वामी तुलसीदास और अग्रदास श्री अनंतानंद के प्रशिष्य थे और चरित्री सूकरखेत का अखाड़ा 'अग्रदास' का 'अखाड़ा' कहा जाता है। इस जन ने संगम पर जाकर यह जानकारी प्राप्त की है। अभी इतना ही अलं है।

सोरों वा सूकरखेत

हाँ, सोरों को जो साहिबी 'सूकरखेत' कहा गया है उसका अर्थ यह नहीं कि साहिबों के पहले सोरों का 'सूकरखेत' से कोई नाता ही नहीं था। नहीं उसका अर्थ इतना ही है कि 'रामचरितमानस' के 'सूकरखेत' को 'सोरों' गौरांग प्रभुओं ने ही बनाया है। उनकी शिक्षा के फलस्वरूप ही यह सोरवीं सूकरखेत तुलसी को लेकर खड़ा हुआ है। अन्यथा अतीत का परंपरागत कोई भी सच्चा सूत्र ऐसा हाथ नहीं लगता जिससे कि सोरों की यह कल्पना प्रकाश में आए। हाँ, अँगरेजी शासन में आने के पहले भी सोरों को 'सूकरक्षेत्र' कहा जाता था, इसका प्रमाण हमारे पास है जो धड़ल्ले से सबके सामने परीक्षा के लिए प्रस्तुत किया

जा सकता है और खुल कर कहा जा सकता है कि छोड़िए सोरों-सामग्री के जाल को और लीजिए 'सोरों' के पक्ष के इस पुष्ट प्रमाण को। साखी तुलसीदास के समकालीन वीरसिंह बुन्देल के राजकवि मित्र मिश्र की है। 'वीरमित्रोदय' के परिचय की आवश्यकता नहीं। उसी प्रामाणिक ग्रंथ का प्रमाण है। लिखते हैं-

अथ सूकरक्षेत्रमाहात्म्यम्।

वराहपुराणे,

वराह उवाच।

परं कोकामुखं स्थानं स्थानं कुब्जाम्रकं परम्।
परं च सौकरं स्थानं सर्वसंसारमोचकम्॥
यत्र संस्था मया देवि ह्युद्धृतासि रसातलात्।
तत्र भागीरथी गङ्गा मम शौचार्थमागता॥

अधिक क्या संक्षेप में-

ये मृतास्तत्र सुश्रोणि क्षेत्रे शूकरके मम।
तारिताः सर्वसंसारात् श्वेतद्वीपाय यान्ति ते॥

[वीरमित्रोदय, तीर्थप्रकाश, पृष्ठ ३७५].

फिर भी यह टाँक रखने की बात है कि व्यवहार में कभी इसका 'सूकरखेत' नाम नहीं जगा है और सदा प्रचार में इसका नाम 'सौकरं' वा ऐसा ही कुछ रहा है जो आज 'सोरों' के रूप में विराजमान है। तुलसीदास के समय में भी वह 'सोरों' वा 'सोरूं' था ऐसा मानने में कदाचित् सोरों को भी कोई आपत्ति नहीं। यहाँ की एक विशिष्ट घटना की व्याख्या में स्व० श्री राधाकृष्ण दास जी लिखते हैं कि नागरीदास-

वहाँ से श्रीजमुना जी का स्नान करके सोरूं में आकर रहे। यह स्थान जिला एटा में है। यहाँ बुढगंगा जी का स्नान किया। यहीं भग-

चान का श्री बाराहावतार हुआ है। हिरण्याक्ष को मारा है। इसका उपनाम उकलक्षेत्र और दूसरा शूकरक्षेत्र है।

[नागरसमुच्चय, जीवनचरित्र, पृष्ठ २१]

सोरों की सनक

यदि 'सोरों' के उपनाम के रूप में 'सूकरखेत' की चर्चा रहती तो बात ही और थी। किन्तु आज की तो स्थिति ही कुछ और है। हों वा न हों, तुलसी सोरों के हो रहें बस यही आज का संकल्प है। और साहित्य ? उसकी कुछ न पूछिए। उसकी वैज्ञानिक परीक्षा से भन्ना कर डा० माताप्रसाद गुप्त लिखते हैं–

फलतः ऐसा लगता है कि सोरों के तुलसीदास और नंददास ने जो काम स्वतः नहीं किया उसके लिए उन्होंने अपने बेटों-भतीजों को और इन बेटों-भतीजों ने अपने शिष्य प्रशिष्यादि को उपदेश कर दिया था, ताकि उनके दिवंगत हो जाने के बाद भी उनके जन्म-स्थान, जाति-पाँति, वंश-परंपरादि का इतिहास केवल काव्य-संग्रहों, चरितों, अन्य प्रकार की कृतियों और वर्षफलों में ही नहीं, पुष्पिकाओं में भी सुरक्षित रहे।

[तुलसीदास तृ० सं०, पृष्ठ १२४]

कहीं अच्छा होता यदि यहीं उनका यह निर्देश भी गोचर हो जाता कि उनके प्राकट्य की तिथि भी समझा कर नियत कर गए थे। अन्यथा सं० १९९५ से ही उनका साक्षात्कार क्यों होता ? जो हो इसी सामग्री के बलबूते और कुछ सरकारी सुझावों के आधार पर श्री रामदत्त जी भारद्वाज का पक्ष है कि सोरों के अतिरिक्त दूसरा कोई स्थान तुलसी का 'सूकरखेत' हो ही नहीं सकता। ठीक है। परन्तु सच तो कहें आप के निजी प्रमाणों के अतिरिक्त कहीं आप को कुछ ऐसा उल्लेख भी मिला है कि कवि तुलसीदास सोरों गए भी थे ? जी। उन्हीं डा० गुप्त का यह भी निवेदन है—

फलतः भले ही अपने बालापन में अपने गुरु के साथ उन्होंने 'सूकरखेत' की—जिसे यदि एक बार सोरों के विद्वानों के अनुसार सोरों ही मान लिया जाए— यात्रा की हो, तो भी सोरों से तुलसीदास का कोई निकट का संबंध प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर प्रमाणित नहीं होता।

[तुलसीदास तृ० सं०, पृष्ठ ६६१]

सूकरखेत की देन

ऊहा में अधिक उलझने से लाभ नहीं। सीधी सी बात समझने की यह है कि तुलसी का 'सूकरखेत' से लगाव क्या? सो तुलसीदास का कथन है—

जागबलिक जो कथा सुहाई। भरद्वाज मुनिबरहि सुनाई।
कहिहौं सोइ संबाद बखानी। सुनहु सकल सज्जन सुखु मानी।
संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा।
सोइ सिव काग भुसुंडिहि दीन्हा। रामभगत अधिकारी चीन्हा।
तेहि सन जागबलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा।
ते श्रोता बकता समसीला। सबदरसी जानहिं हरि लीला।
जानहिं तीनि काल निज ज्ञाना। करतल गत आमलक समाना।

यहाँ तक तो कथा का 'संप्रदाय' निश्चित रूप में चला। इसके आगे के क्रम का पता नहीं। हाँ, अति सामान्य रूप से कह दिया गया—

औरौ जे हरिभगत सुजाना। कहहिं सुनहिं समुझहिं बिधि नाना।

विचारने की बात है कि यह तो स्वयं तुलसीदास के समय की आँखों देखी बात है न? तुलसी को इसी के बाद कहना पड़ा कदाचित् इसी से कि—

मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकरखेत।

जिज्ञासा प्रबल होती है कि 'पुनि' की पुकार क्या? यदि इसका सीधा लगाव 'जागबलिक पुनि' और 'पुनि भरद्वाज' से

लगाया जाय तो कहना होगा कि इसके पहले 'पुनि गुरु' का विधान भी होना ही था, किन्तु प्रतीत होता है कि जानबूझ कर तुलसी ने इसे गोल कर दिया है, और 'औरौ जे हरिभगत सुजाना' में सबका समाहार कर लिया है। हमारी समझ में तुलसी का अभिप्राय यह है कि उक्त कथा को सुनने का अवसर तो पहले भी इसी 'कहहिं सुनहिं समुझहिं विधि नाना' में मिल गया था, पर 'अति अचेत' होने के कारण उस समय वैसा कुछ समझ में न आ सका जैसा कुछ कि उसका अर्थ अब समझ में आ सकता है। किन्तु 'बालपन' का संस्कार व्यर्थ नहीं गया। प्रौढ़ होने पर उसके मर्म की जिज्ञासा हुई और फलतः फिर 'सूकरखेत' में गुरु जी से सुनने का संकल्प हुआ। किन्तु जैसा कि चाहिए उसका अर्थ अब भी समझ में न आ सका। कारण 'श्रोता' की कमी थी। भला जो कथा 'ज्ञाननिधि' श्रोता के लिए बनी हो उसको कोई मोहग्रस्त प्राणी कैसे समझ सकता है? फिर भी यदि कोई वक्ता किसी को कुछ समझाने पर तुल जाय तो फलतः श्रोता की समझ में कुछ आ ही जाता है। सुनिए न, तुलसी का ही वचन है—

> श्रोता बकता ज्ञाननिधि कथा राम कै गूढ़।
> किमि समुझौं मैं जीव जड़ कलि मल ग्रसित बिमूढ़ ॥३०॥
>
> तदपि कही गुर बारहि बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा।

और जब जहां तक 'मति' की गति है वहां तक कथा का बोध हो गया तब उसको 'सरल' करने की सूझी। फलतः निश्चय हुआ—

> भाषाबंध करबि मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई।
> जस कछु बुधि विवेक बल मेरे। तस कहिहौं हिय हरिकें प्रेरें।

'मोरे मन प्रबोध जेहि होई' से यह भी ध्वनित होता है कि तुलसी उस कथा का गान भर करना चाहते हैं। अब विचारणीय यह हो जाता है कि वास्तव में तुलसी के इस कथन का मर्म क्या है कि—

समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत।

क्या गुरु से 'सूकरखेत' में 'बालपन' में कथा सुनी गई और फिर 'युवापन' में उनसे कथा सुनने का अवसर नहीं रहा ? अब यदि यही बात है तो भली भाँति जाने बिना लिखने का संकल्प कैसा ? निदान हमारी समझ में तो परिपक्वावस्था में ही 'सूकर-खेत' में यह कथा सुनी गई। 'बालपन' में तो वह संत-मंडली में जहाँ-तहाँ जिस-तिस भाव से सुन ली गई थी। निदान 'सूकरखेत' को तुलसी का जन्मस्थान नहीं माना जा सकता।

४—राजापुर के तुलसीदास

राजापुर का पक्ष

राजापुर का तुलसीदास से कुछ ऐसा नाता जुट गया है कि लोग उसको तुलसीदास का जन्म-स्थान तक मानने लग गए हैं। किंतु जहाँ तक इस जन को पता है इसका रहस्य कुछ और ही है। देखिए। राजापुर के ही एक रत्न श्री रामबहोरी शुक्ल जी ने कभी लिखा था—

इसके अतिरिक्त राजापुरमें उपाध्याय (सरयूपारीण) ब्राह्मणों का एक वंश है। उस वंश के लोग अपने को गोस्वामी जी के शिष्य श्री गणपति उपाध्याय का वंशज बताते हैं। गणपति जी के ऊधोदास, माधोदास और केशवदास ये तीन पुत्र थे। उन्हीं के वंशजों को, जो साझीदार कहलाते हैं, आज भी राजापुरके यमुना के घाट की उतराई की मद में ६८४) (छः सौ चौरासी रुपये) सालाना, चार किश्तों में (पहले सरकारी खजाने से मिलता था और अब, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड से) मिलते हैं। उन्हें राजापुर गाँव में ९६ (छयानबे) बीघा जमीन मुआफी में मिली है जिसमें राजापुर की बस्ती और बाजार का कुछ हिस्सा भी सम्मिलित है। राजापुर से यमुना जी पर नावों द्वारा गल्ला, तिलहन आदि बाहर, विशेषकर प्रयाग और उससे पूर्ववर्ती स्थानों को जाया करता है। प्रयाग जानेवाली प्रति नाव पर आठ आना और उससे आगे जानेवाली हर एक नाव पर एक रुपये माफीदारी इन लोगों को सदा से मिलती आई है।

इस मुआफी को इस वंश के लोग परंपरा से सम्राट् अकबर की दी हुई कहते आते हैं। इसका कोई लिखित प्रमाण नहीं मिलता। कहते हैं वह ताम्रपत्र जिसपर अकबर का लेख था बहुत दिन हुए झगड़ा होने पर इस वंश के लोग अपने साथ नयागाँव (चित्रकूट) ले गये। वहाँ भी १००, १५० बीघा की मुआफी उन लोगों के पास है। बहुत से पुराने कागज कचहरियों में समय समय पर इस वंश के लोग जमा करते गये और कुछ तो आगे चलकर जो जिसके हाथ लगा झटकता गया। उनका पता आजकल नहीं चलता। मुझे इस वंश के पंडित मुन्नीलाल उपाध्याय के पास जिनके ही अधिकार में गोस्वामीजी के हस्तलिखित 'मानस' का अयोध्याकांड रहता है, केवल दो तीन पुराने कागज-पत्र जीर्ण-शीर्ण दशा में मिले हैं, इनमें से एक तो पन्ना के राजा श्री हिन्दूपति की सनद है। उसमें लिखा है कि—

> श्री महाराजाधिराज श्री महाराजा हिन्दूपति जू देव ते पं० श्री उपाध्याय सीवाराम कौ सनधि करि दई पुरानी सनधि वर हुकुम आपर कसबा राजापुर मैं ए आगै ए उहा की राह रकम हाट फैट में पाइ आए हौइ सो बहाल है हर हमेश पाये कोऊ आमिल मैमार जमींदार मुस्तहिम न हौइ हुकुम हजूर फागुन सुदि ३ संवत् १८१३ मुकामि परना।'

अँगरेजी राज्य के पहले बाँदा जिला बुंदेलों के अधीन था। उनकी वंशावलि के सभी राजा उक्त मुआफी प्रदान करते आये हैं। इसका प्रमाण उक्त पंडितजीके पास बहुत ही जीर्ण कागज में उर्दू सनद की बायीं ओर जो कुछ लिखा है उससे भी मिलता है। बीच-बीच में वह कई जगह फट गया है इससे जो कुछ पढ़ा जा सका है उसकी प्रतिलिपि नीचे दी जाती है।

'आमिलान हाल इस्तकबाल परगनै गहोरा सिरक कालीजर सूबे इलाहाबाद के........आगै प मदारीलाल ......(गो)...... साईं तुलसीदास जीके......(बं)...... स मैका महसूल साइरवातिहवा तिहाव......जी वा कुलारी वा गुजर श्री जमुना जी राजापुर अमलै पर बमूजब सनद बादसाही वा सूबेदारान वा राजा बुंदेलखंड......है सो सिरकार में हाल है सो हसव मुवान के अमल सौ मुजाहिम ना हूजै हरसाल नई सन मा गयौ। ता० २१ सावन (?) सन् १२।

सन् १७१९ बमुकाम बाँदा।

इस सनद पर एक कोने में डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट के हस्ताक्षर हैं, जो बहुत धूमिल होनेसे पढ़े नहीं जाते और उनके ऊपर उर्दू में लिखा है—

हुकुम हुआ २७ दिसंबर सन् १८४१।

इससे प्रकट होता है कि १८४१ में यह किसी मुकदमे में पेश हुई होगी और डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट ने इसको विश्वस्त स्वीकार किया होगा और उस तिथि को इसे लौटाने की आज्ञा दी होगी।

मन की सूझ

ठीक है। परंतु सबसे विकट पहेली तो है इसके सन-संवत की न ? सो देखिए। उन्हीं शुक्ल जी का तर्क है कि–

ऊपर की बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सन १२ (जो १७१२ होगा, क्योंकि नीचे 'सन् १७१९ बमुकाम बाँदा' किसी के उसको प्रमाणित करने की तिथि जान पड़ती है।) में सनद लिखने वाले ने बादशाहों, सूबेदारों और बुन्देलखंड के राजाओं की पुरानी सनदें पंडित मदारीलाल के पास अवश्य देखी होंगी। बादशाहों से मुगल

बादशाहों का ही अर्थ लिया जायगा, क्योंकि छत्रसाल आदि बुन्देलों के पहले इस प्रदेश पर मुगलों का ही अधिकार था।

[वीणा, वैशाख १९९५, पृष्ठ ५५०]

किंतु पता नहीं कि श्री शुक्ल जी 'सन १७१९ बमुकाम बाँदा' के 'सन १७१९' की गुत्थी को किस प्रकार सुलभा सकते हैं। कारण यह कि उनकी समझ में भी यह होगा तो ईसवी ही सन। फिर प्रश्न उठता है कि सन १७१९ ई० में बाँदा में अँगरेजी शासन कहाँ कि वहाँ अँगरेजी सन चालू हो गया। निश्चय ही इसके पढ़ने में उनसे कुछ भूल हो गई है। हमारी समझ में उन्होंने इसको कुछ का कुछ पढ़ लिया है। तो क्या यह संभव नहीं कि वास्तव में था तो १८१९ और आपने पढ़ लिया इसे १७१९? कारण कि उर्दू में आठ (^) का सात (<, v) पढ़ा जाना कुछ बहुत कठिन नहीं। भ्रांति अथवा गोत्रस्खलन से ऐसा असंभव नहीं प्रायः संभव सा ही है।

इस प्रकार श्री शुक्ल जी ने 'सन १२' पर भी विशेष ध्यान नहीं दिया है और प्रतीत होता है कि हिजरी महीना 'शाबान' से अपरिचित होने के कारण उसे 'सावन (१)' पढ़ लिया है। भाव यह कि वास्तव में यह सन सम्राट का जुलूसी सन है और यह मास हिजरी सन का ८ वाँ महीना 'शाबान' है।

पूछा जा सकता है और पूछा जाना चाहिए भी कि तो फिर इसका महत्त्व क्या है? नम्र निवेदन है कि इसी के पेट में सारा रहस्य है। पहले यह भली भाँति समझ लीजिए कि सन १८१९ ई० में दिल्ली के शासक मुगल सम्राट् अकबर द्वितीय थे। सन १८०६ से १८३७ ई० तक आप का नाम चला। हिजरी सन

अकबर द्वितीय

में कह लें सन १२२१ हि० से सन् १२५३ हि० तक आप की गद्दी रही। फिर आँख मुँद जाने पर आपका बेटा बहादुरशाह गद्दी पर बैठा और मरते-मरते तड़प कर कह गया–

मेरी कब्र पर कोई आए क्यों ?
कोई चार फूल चढ़ाए क्यों ?
जो किसी के काम न आ सका।
वह एक मुश्त गुबार हूँ।

भाव यह कि कुछ न होने पर भी मुगल बादशाह का मोल था और उसके नाम से बहुत से कार्य सधते थे। फिर दयनीय अकबर द्वितीय से यदि महनीय अकबर महान् का कार्य लिया गया तो इसमें आश्चर्य क्या ? आश्चर्य तो इसमें अवश्य है कि हमने अपने तारक 'महामुनि' को भी मुगल-माफीदार बना दिया और न जाने किस तुलसीदास को महात्मा गोस्वामी तुलसीदास समझ लिया।

प्रमाण का पोल

जी। राजापुर की शोध आगे बढ़ी और सं० १९९९ वि० में 'श्री तुलसी स्मा० सं० पाठशाला' के प्रधानाध्यापक श्री महादेव पाण्डेय जी ने 'तुलसी चरित' के रूप में कुछ सामग्री उपस्थित की। प्रस्तुत सामग्री के पृष्ठ 'ञ' पर आपको पढ़ने को मिलेगा–

(कतिपय प्रमाण-पत्रों की एक झलक)

गोस्वामी जी के प्रधान शिष्य गनपतराम के वंशज अभी तक मौजूद हैं। तुलसीदास जी के नाम पर मिली हुई मुआफी के हकदार ये ही लोग हैं—वंशावली इस प्रकार है :—

कहने का तात्पर्य यह कि राजापुर के इस प्रमाण के अनुसार तुलसीदास के समय से सं० १९९९ वि० तक कुल इस कुटुंब की ८ पीढ़ियां बीतीं। किंतु क्या है यह विश्वसनीय भी? आश्चर्य ही नहीं अचंभे की बात है कि डा० माताप्रसाद गुप्त सा हिसाबी डाक्टर इसकी अवहेलना करता है। कह लें, इस पर कुछ ध्यान ही नहीं देता और उलटे लिख बैठता है—

यहाँ पर जो उपाध्याय कुल है वह निस्सन्देह गणपति उपाध्याय का वंशज है, यह उन फरमान पट्टों आदि से भली-भाँति प्रकट है जो इन लोगों के पास सुरक्षित हैं। और इस कुल का संबंध तुलसीदास जी से रहा है, यह न केवल तुलसीदास के मंदिर, उनकी मूर्ति, तथा उनकी तथाकथित हस्तलिखित 'रामचरितमानस' की प्रति के उक्त वंश के अधिकार में होने से ज्ञात होता है, वरन् एक पट्टे से भी ज्ञात होता

है जिसमें तुलसीदास का नाम आता है। फलतः विरोधी साक्ष्यों के अभाव में यह भी मानने में विशेष कठिनाई न होनी चाहिए कि इस वंश के पूर्वपुरुष गणपति का संबंध किसी प्रकार से तुलसीदास से शिष्य-गुरु का था।

[तुलसीदास तृ० सं०, पृष्ठ ६०–१]

निवेदन है, ऐसा किसी प्रकार संभव नहीं दिखाई देता। हमें भूलना न होगा कि जिस पट्टे वा कागद में 'तुलसी' का नाम आता है उसी में उनके नाम के कुछ पहले किसी 'मदारीलाल' का नाम आता है जो उक्त उपाध्याय वंश के प्राणी बताए जाते हैं। हम देख ही चुके हैं कि प्रस्तुत उक्त 'वंशवृक्ष' में 'शिवाराम' और मदारीराम सहोदर और गनपतराम के पुत्र हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि पं० मदारीराम के ३ भतीजे हैं। हमारी समझ में पं० मदारीराम के निधन पर उनका 'अंश' 'तिहावा-तिहवा' इन्हीं तीनों भतीजों में उक्त कागद के अनुसार बँट गया। हमने पहले भी कहा था—

इसमें जो अंश विशेष महत्त्व का है वह है '···साईं तुलसीदास के [ ] समै का महसूल।' '···साईं' के पहले 'गो' लगा देने से गोसांई तुलसीदास तो निकल आए परन्तु 'समै' के पहले 'बं' लगा देने से कुछ उलझन भी टपक पड़ी। श्री गुप्त श्री रामबहोरी शुक्ल के इस 'बं' को ठीक नहीं समझते। उनकी दृष्टि में 'बंस' के 'स' के साथ 'बं' को जोड़ना ठीक नहीं है। 'स' 'समै' का अंश है, कुछ 'बंस' का नहीं। कारण उनकी दृष्टि में यह है कि 'बंस मै का महसूल' का प्रयोग प्रचलित नहीं। परंतु वस्तुतः ऐसा है नहीं। ऐसा प्रयोग आज भी प्रचलित है। 'में' के साथ 'से' और 'में' के साथ 'का' का प्रयोग खड़ी बोली में आज भी होता है। यदि इसको 'समै' समझा जाय तो भी 'समै

का महसूल' स्पष्ट नहीं होता। 'बं' को जोड़कर जो 'बंस' किया गया है तो 'अं' जोड़कर 'अंस' भी किया जा सकता है। हमारी समझ में तो इस 'अंस मैका महसूल' का अर्थ होगा मुआफी का महसूल। इससे जाना जा सकता है कि उक्त 'मुआफ़ी' कभी गोस्वामी तुलसीदास को ही मिली थी और उनके 'अंश' को ही उनके शिष्य श्री गणपत्नि उपाध्याय के वंशज भोग रहे हैं। इसके बारे में कुछ और कहना ठीक नहीं जँचता। कागद की जब तक पूरी पड़ताल न हो ले तब तक यों ही कुछ और दूर तक बुद्धि को दौड़ाना ठीक नहीं।

[तुलसीदास, पृष्ठ ३१–२]

कागद की पूरी पड़ताल तो तब हो जब वस्तुतः उसमें कुछ राजापुर के पक्ष के समर्थन में जान हो, नहीं तो पोल खुल जाने पर पूछता कौन है? किंतु तब भी अब राजापुर की कलई आप ही खुल जाती है। लीजिए, इस वंश का एक दूसरा पट्टा है। यह आप ही साखी भरता है कि वास्तव में इस वंश के 'सीवाराम' उपाध्याय हुए कब और पा क्या रहे हैं किससे क्यों? अच्छा तो वह पट्टा है—

पट्टा का प्रमाण क्या

श्री महाराजाधिराज श्री महाराजा श्री राजा अमान सिंघ जू देव ये ते पं० श्री उपाध्वा सीवाराम कौ सनधि कर दई जो आपर मौजे मझिगवा में कस्बा राजापुर बसतु है सु आगै तें ये उहाँ की राह रकम हाटफेट कौ पाइ आए होइ सु पाअै जाइ पुरानी सनधि वर हुकुम हाल कोऊ आमिलु मैं मार जिमींदार मुजाहिम न होंइ हुकुम हजूर पौष सुदि १५ सं० १८१३ मु० लुढ़वारौ।

[तुलसीदास, तृ० सं०, पृष्ठ १४८-९]

तो क्या अब भी सिद्ध करने की आवश्यकता रही कि पं०

'मदारोलाल' के भाई पं० 'शिवाराम' वा 'सीवाराम' सं० १८१३ में विराजमान थे ? यदि नहीं तो पाठक स्वयं सोच लें कि इन लोगों के पिता पं० 'गनपतराम' क्या किसी भी दशा में गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन माने जा सकते हैं ? 'हाँ' कहने का साहस कदाचित् किसी प्राणी में हो ।

फरमान की हकीकत

हाँ, हम जानते हैं कि 'राजापुर' के पास एक और भी फरमान है जिसके बारे में उक्त डा० गुप्त जी का निवेदन है—

फरमान फारसी में है, इसलिए उसका अनुवाद मात्र दिया जा रहा है ।

ठीक है । हम भी उसी अनुवाद का अनुगमन करना ठीक समझते हैं । सो है—

सही फरमान ता० २५ माह आवान इलाही सन् ३ यह है कि साहबे सूबा और इलाहाबाद के हाल और मुस्तकबिल (वर्तमान और भविष्य के) मुतसद्दी (अहलकारान) शाही इनायत के उम्मीदवार होकर जानें कि इस वक्त ऊधो वल्द गनपत ने हुजूर के दरबार में हाजिर होकर इस्तगासा दिया और फरियाद चाही है कि हुक्काम परगना गहोरा जकात व दूसरे उठा दिए गए सायरों (करों) की इल्लत में, जो कि हुजूर की सल्तनत में मुआफ हैं, मौजअ विक्रमपुर (जिसका नाम पीछे राजापुर हुआ) के रहनेवालों से और परगना मजकूर के दूसरे रहनेवालों से वसूल कर रहे हैं, और उन लोगों की हालत में मुजाहिमत कर रहे हैं । चाहिए कि मामले की हकीकत को समझकर जिस तरह काम हो रहा है उसे न होने दें, ताकि परगने मजकूर के हाकिमों और आमिलों में से कोई भी उन कामों को जो मना कर दिए गए हैं न करने पाए और लालच में आ कर किसी किस्म की बेजा माँग न करें । इस बाबत निहायत ताकीद की जाती है

और जो कुछ हुक्म दिया गया है उसके खिलाफ न जावें। तारीख सदर मजकूर सन् इलाही।

[तुलसीदास, तृ० सं०, पृष्ठ, १४८]

इस 'फरमान' का यथार्थ मूल्य नहीं आँका जा सकता। 'ऊधो' और 'गनपत' को हम जानते हैं तो पुत्र और पिता के रूप में नहीं, जैसा कि यहाँ है। हाँ, पौत्र और 'पितामह' के रूप में, जैसा कि उक्त वंश-वृक्ष में है। और लोगों के कहने से यह भी मान लीजिए कि यह 'विक्रमपुर' 'राजापुर' ही है तो भी यह कैसे मान लें कि इसका कुछ 'तुलसी' से भी लगाव है? कहा जाता है कि इसमें 'इलाही सन् ३' का उल्लेख जो है। सो भी कुछ काल के लिए सत्य। परंतु उसका ईसवी सन हुआ १५८७। कारण यह कि सन् १५८४ के 'नवरोज' से इलाही सन् का आरंभ हुआ। इस प्रकार १५८४+३ = १५८७ सिद्ध हुआ और यह विक्रम संवत् बना १६४४। तो इसके आधार पर यह कहा जा सकता है न कि गनपत को सं० १६४४ में माफी मिली? परंतु 'ऊधो वल्द गनपत' का दरबार में जाना कब हुआ? कहा गया है कि सम्राट आलमगीर के समय में। अर्थात् किसी भी दशा में सन् १६५८ के पहले नहीं। और अधिक से अधिक सन १७०७ तक।

किंतु हमारी समझ में यह ऐसा है नहीं। कारण यह कि एक तो 'मुहर' पर 'आलमगीर' के आगे दो (२) लिखा हुआ है और दूसरे इसकी 'नकल' की मुहर पर छाप है 'शाह आलम' की। इसी

आलमगीर द्वितीय

से हमारा कहना है कि यह आलमगीर द्वितीय की छाप है जिसके उपरांत कुछ समय पीछे शाह आलम बादशाह बना था। इस आलमगीर का शासन-काल है सन् १७५४ से १७५९

तक और शाह आलम का समय है सन् १७६१ से १८०६ तक। अतएव कोई कारण नहीं दिखाई देता कि हम इन दो तर्कों की अवहेलना कर क्यों इसे औरंगजेब के समय में सिद्ध समझें ? और स्थिति को देखने से समझ में तो ऐसा आता जान पड़ता है कि यह 'इलाही' भी कहीं मूल में 'जुलूसी' न हो। यदि कहीं ऐसा हुआ तो इस फरमान का समय आप ही हो जायगा सं० १८?४ वि०। अर्थात् उसी समय के आसपास जब बुंदेलखंड के शासक 'पट्टे' वा 'सनद' को पक्की करने में लगे हैं। ऐसी स्थिति में देखना यह होगा कि वस्तुतः फिर 'मदारीलाल' का संबंध किसी तुलसीदास से है क्या और स्वयं तुलसीदास यदि 'गोसांई' हैं तो कैसे। उपाध्याय कुल से अभी कोई प्रमाण उनके कवि वा महात्मा होने का तो कहीं मिला नहीं। फिर इसका रहस्य क्या है ?

अपनी ओर से अधिक तर्क-वितर्क करने की अपेक्षा कहीं

गोसांई शासक

अच्छा है यह बता देना कि श्री गोरेलाल तिवारी के कथनानुसार—

इस समय ऐसे झगड़ों के कारण किसी राजा को भी चैन न था। सब राजाओं का ध्यान अपनी रक्षा की ओर लगा हुआ था। राज्य-व्यवस्था की ओर किसी का ध्यान न था। पूने में भी राज्य-व्यवस्था कुछ अच्छी न थी। बुंदेलखंड में मराठों की व्यवस्था कुछ ठीक थी, परंतु यहाँ भी एक नया राज्य स्थापित हो रहा था। झाँसी के समीप ही गोसाईं लोगों ने बहुत सी सेना एकत्र की थी और वे मराठों को हरा कर एक स्वतंत्र राज्य स्थापित करना चाहते थे। गोसाईं लोगों का पहला राजा इन्द्रगिरि था। इसने अपनी सेना लेकर सं० १८०२ में मोठ परगने पर अपना अधिकार कर लिया। यहाँ पर गोसाईं लोगों

ने एक किला भी बनवाया। अपनी सेना बढ़ाकर वे लोग आसपास का देश अपने अधिकार में करने लगे। थोड़े ही दिनों में उन लोगों ने ११४ गाँव अपने अधिकार में कर लिए। उस समय झाँसी में मराठों की ओर से नारोशंकर नाम के एक सरदार नियत थे। नारोशंकर ने गोसाईं लोगों को दबाने का प्रयत्न किया। संवत् १८०७ में उन्होंने गोसाईं लोगों को एक युद्ध में हरा दिया। इन्द्र गिरि को हारकर मोठ से भाग जाना पड़ा। मोठ से भागने पर इन्द्र गिरि इलाहाबाद गया और इलाहाबाद से वह अवध के वजीर शुजाउद्दौला के पास आया। इन्द्र गिरि बड़ा शूर-वीर पुरुष था। अवध के नवाब वजीर शुजाउद्दौला ने इन्द्र गिरि से प्रसन्न होकर उसे अपने यहाँ नौकर रख लिया। नवाब शुजाउद्दौला इंद्र गिरि का बड़ा सम्मान करता था और वह अवध के मुख्य सैनिक सरदारों में से था। इंद्र गिरि की मृत्यु विक्रम संवत् १८०९ में हुई और उसके पश्चात् उसका चेला अनूप गिरि अवध में सेना का सरदार हो गया।

[बुन्देलखंड का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ २५०–१]

अनूप गिरि

अवध में पहुँच कर 'अनूप गिरि' 'हिम्मतबहादुर' बने और होते होते अंत में हुआ यह कि—

हिम्मत बहादुर ने सेंधिया की नौकरी छोड़ कर अली बहादुर के यहाँ सेनापति की नौकरी कर ली थी। अलीबहादुर की मृत्यु के पश्चात् यद्यपि यह उसी के यहाँ था पर मन ही मन अपना स्वतंत्र राज्य जमाने की चिंता में लगा हुआ था। इसी समय अँगरेजों ने बुंदेलखंड के भीतर से सेना भेजने का प्रबंध किया। हिम्मतबहादुर तो यह चाहता ही था। इसने बात की बात में अलीबहादुर की नौकरी छोड़ कर शाहपुर जा कर अँगरेजों से विक्रम संवत् १८६० (४-९-१८०३) में संधि कर ली। इसी संधि से अँगरेजों ने इसे अपनी सहायता के

लिए सेना रखने को २० लाख रुपये की जागीर देने का वचन दिया और कुछ इलाका भी इसकी जागीर में छोड़ दिया। इससे इसका राज्य इलाहाबाद से कालपी तक हो गया।

[वही, पृष्ठ २८४]

अस्तु, झाँसी से अवध तक जो 'गोसाईं' की दौड़ लगी है और 'कालपी' से 'इलाहाबाद' तक जो 'गोसाईं' को 'जागीर' मिली है वह पुकार कर कहती है कि 'राजापुर' के प्रसंग में कृपया इस गोसांई को न भूलें और कृपा कर यहीं टाँक लें इतना और भी कि 'चरित्र' के वचनानुसार जब कवि गंग को अपने किए का फल मिल गया तब—

ताहि समै दिल्ली सुलताना। लागि जो लियौ हुतो बरदाना।
दरस हेतु आयौ सचु पायौ। अति भेटा सादर सिर नायौ।
दीन बचन मृदु बानी भाखी। वह संपदा बिहित तिन राखी।
नगर बनारस को चहिय, लिखि कागद पर दाम।
अंगिकार प्रभु कीजिए, आवै दासन काम ॥१॥
कह्यौ कि मै तुम पै प्रथम, कही हुती जो बात।
सत्य सबै सोइ जानियै, यामें पाँच न सात ॥२॥
अर्ब खर्ब लौं द्रव्य है, उदय अस्त लौं राज।
तुलसी जो निजु मरन है, तौ सब कौने काज ॥३॥

[चरित्र, पृष्ठ १२१-२]

गिरि-गोसांई

अतएव हमारी स्थापना है कि प्रस्तुत प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध ठहरता है कि वास्तव में राजापुर के उक्त उपाध्याय वंश का संबंध है इस गिरि-गोसांई से, कुछ महात्मा तुलसीदास से कदापि नहीं।

माफी, फरमान, सनद, पट्टा या जो कुछ कहें उस सब कुछ की छान-बीन से हमने देख लिया कि उक्त 'गोसाईं' जी तो कुछ और ही सिद्ध हुए जा रहे हैं। अब देखना यह रहा कि वहाँ के उस कांड का रहस्य क्या है जिसके विषय में आज बड़े अभिमान से कहा गया है—

अयोध्याकांड

गोस्वामी जी ने अपने हाथों से रामचरितमानस की प्रतियाँ लिखी थीं जिसकी एक प्रति (अवशिष्ट अयोध्याकांड) आज भी राजापुर में उनके उत्तराधिकारी शिष्य के वंशजों के वहाँ सुरक्षित रखी है।

यहाँ तक तो रही भूमिका। अब आगे का इतिहास है—

इस समय यह पुस्तक केवल अयोध्याकांड ही शेष है। शेष जलमग्न हो गई है। इसके विषय में प्रामाणिक जनश्रुति इस प्रकार है—

गो० जी की हस्तलिखित रामायण के दर्शनार्थ अनेक राजा महाराजा पदाधिकारी भावुक भक्त साहित्यिक अन्वेषक आदि आया करते हैं। और यथासाध्य पुष्पांजलि के रूप में कुछ दक्षिणा भी चढ़ाते हैं। उस समय यह पुस्तक मंदिर (तुलसीदास की कच्ची कुटी) में रहा करती थी। लोभवश या अन्य किसी अज्ञात कारण से पुजारी एक दिन रामायण (संपूर्ण) लेकर रफूचक्कर हुआ। गोस्वामी जी के शिष्यों को रात में स्वप्न हुआ कि 'पुजारी पुस्तक चुरा कर भाग गया।' उन लोगों ने प्रातःकाल पुजारी को पकड़ने के लिए घोड़े से आदमी दौड़ाए। जिस समय पुजारी पुस्तक लिए हुए नाव पर बैठ कर गंगा पार कर रहा था ठीक उसी समय नाव लौटाने के लिऐ भेजे हुए आदमियों ने मल्लाह को पुकारा। पुजारी समझ गया और रामायण को गंगा जी के मध्य में छोड़ दिया। यह समाचार कालाकांकर के राजा

साहब को दिया गया। उन्होंने जाल छुड़वा कर पुस्तक निकलवाया। और काशीनरेश ने कुशल कारीगरों से उसका जीर्णोद्धार कराया। फिर भी ६ कांड इस प्रकार गल गए कि पढ़ने के लायक न रह गए। केवल अयोध्याकांड मध्य होने से बच गया था। छिन्न भिन्न कांडों को अपने यहां रखकर काशीनरेश ने अयोध्याकांड को एक ऐसे जरी के वस्त्र में वेष्टित करा कर राजापुर भेजा जिसमें उनके गुरु काष्ठजिह्वा स्वामी का बनाया हुआ पद स्वर्णाक्षरों में अंकित है। यह वेष्टन अभी भी मौजूद है। पुस्तक में पानी के धब्बे और उसके सुधार के चिन्ह बने हुए हैं।

[तुलसीचरित, पृष्ठ ३४-५]

इसके पहले इस कांड की जनश्रुति यह थी-

पावन तीरथराज से जोजन पांचेक दूर।
कालिंदी के दखिन तट विलसत राजापूर॥
तुलसिदास के वास को सो प्रसिद्ध असथान।
एक बार गोस्वामि जब काशी कीन्ह पयान॥
पूरन रामायन स्वकृत लिखि सोधी निज पानि।
गनपति निज शिष्यहि दई तासु प्रेम पहिचानि॥
गनपति जू के बंस में पुस्तक रही अनूप।
रक्षा कीन्हीं यतन सों तासु शक्ति अनुरूप॥
साधु दुष्ट इक लै भगो पोथी अवसर पाय।
रक्षक पीछे देखि खल जल में दई बहाय।
जल से काढ़त हेत जन कीन्हें यतन अपार।
एक अयोध्याकांड को तदपि भयो उद्धार॥

[निवेदन : रामायण अयोध्याकांड]

घटना कैसी कुछ भी घटी हो पर पकड़ की बात है केवल अयोध्याकांड का पूरा बच रहना जो किसी प्रकार संभव नहीं दिखाई देता। स्मरण रखने की बात यह है कि इसके सभी पन्ने अलग अलग हैं। अतएव इसकी संभावना कैसे की जाय कि बीच में होने के कारण इसका एक कांड बच गया? पानी में नीचे का भाग पहले डूबता है। साँची पत्रे काठ की पट्टियों के बीच में बेठन से बँधे रहते हैं। अतः किसी ग्रंथ का सर्वथा जलमग्न होना कठिन होता है। हम जानना चाहते हैं कि क्या उक्त तुलसी-हस्तलिखित कांड में कोई भी चिन्ह ऐसा है जिससे हम उसे अलग एक स्वतंत्र कांड न मान किसी 'संपूर्ण' ग्रंथ का अंग मानें? हमारी समझ में तो सभी दृष्टियों से उसकी वैज्ञानिक परीक्षा होनी चाहिए। कारण यह कि अँगरेजी शासन के पहले कहीं उसका कोई उल्लेख नहीं।

जनश्रुति की असंभावना

हाँ, यहीं प्रसंगवश बता देने की बात है कि भाग्यवश हमारे सामने 'रामचरितमानस' की पुरानी छपी एक ऐसी पुस्तक भी है जिसकी भूमिका है—

राजापुर का सतकांड पाठ

पहिले यही पोथी बहुत दफे छप चुकी है सो सब पोथी ग्राहकौं के पास है सो सब पोथी प्रायः सर्बत्र पाठ बनाया औ चौपाई कमती औ क्षेपक का कुछ बिबेक नहीं है॥ यह सब दोष युक्त पोथी हर दफे अधिक अधिक प्रसंग दे को छापे वालौ ने छापा किया है॥ यह सब प्रसंग के जाननेवाले लोगों के कहते सुना है कि छापे की पोथी कुछ काम की नहीं है सो यह पोथी बहुत तल्लास करने से भरतपुर के राज्य में कायस्थकुलकमलप्रकाशक लाला सूरजमल माथुर कायस्थ

ने अपने पाठ करनेके निमित्त राजापुर परगने में जाय कों श्री गोस्वामी जी के वंश की प्रजा वास करती हैं उनको अनेक रुपैये के साध्या और शारीर की सेवा कर कों श्री गोस्दामी जी के हाथ की लिखी पोथी सों प्रति अक्षर शोध कों पुस्तक अपना तैयार किया था ॥ सोई पोथी सों वर्त्तमान समय में छापा किया है ॥ और अधिक पाठ और प्रसङ्ग को रहने दिया है इस निमित्त कि सब लोग तुल्यबुद्धि ब्रह्मा ने सृष्टि किया नहीं है । कथा निकाल देने सों हम कों लोग दोषी करते इस हेतु सों ॥ तथा क्षेपक दोहा सोरठा चौपाई छन्द जो सच्चे दोहा चौपाई के साथ मिल रहे थे उसको जानने के निमित्त अयोध्याकाण्ड पर्यंत स्पष्ट लिख दिया है तिसकी सङ्केत यथा इहा सों प्रसङ्ग के शेष में इहा ताईं क्षेपक है ऐसा लिखा है आगे आरण्यकाण्ड सों क्षेपक दोहा चौपाई के आद्य में ०० और अंत मे ०० यह चिन्ह दिया है तिस सों आप लोग विवेचना कर लेना और यह ग्रन्थ के मर्म जाननेवाले साधु सो हमारा विनय है कि प्राचीन पाठ मे हमारी भूल होय सो लिख को भेज दें तौ हम बहुत आसानवनूत होवैंगे ॥ और जो श्रम हमने यह पोथी शोधनेके निमित्त किया है सो व्यर्थ न जाय ॥ इस निमित्त जो कोई इस पोथी कों देख कों दूसरी पोथी छापेंगे उसको यह पोथी छापने में औ आदर्श की पोथी निकालने में जो खरच पड़ा है सो देना होगा ॥

अच्छा होगा यहीं इतना और जान लेना भी कि उक्त पोथी के मुखपृष्ठ के अंत में लिखा है—

श्री तिलकराम नाथराम भगत ने छपवाया

सम्वत् १८६६ मिती श्रावण कृष्ण ५ बुध बार

सन् १२४६ साज १५ श्रावण

इसमें तो संदेह नहीं कि उक्त 'भगत' जी को पोथी का यह रूप उक्त प्रकाशन, संवत् १८९६, से पहले ही प्राप्त हो गया होगा और फलतः उक्त माथुर जी को इसके और पहले 'राजापुर' जाना पड़ा होगा। स्वयं भगत जी ने राजापुर जाने का कष्ट क्यों नहीं किया ? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। समाधान में कदाचित् कहा जा सकता है इसका प्रधान कारण है—

पाठभेद का कारण क्या ?

उनको अनेक रुपैये के साध्या और शारीरकी सेवा कर कों।

का भगत जीके यहाँ सर्वथा अभाव। परंतु क्या यह पर्याप्त भी होगा ? हो वा न हो, किंतु इतना तो प्रकट ही है कि इस प्रकार रामचरितमानस का एक ऐसा मुद्रित संस्करण प्राप्त हो गया जो अपने को राजापुर का शुद्ध पाठ घोषित करता है। परंतु आपको यह जान कर आश्चर्य होगा कि इसके तथा राजापुर के वर्तमान अयोध्याकांड के पाठ में साम्य नहीं। सो क्यों ?

समाधान कुछ भी हो, परंतु इतना प्रकट रहे कि इसमें प्रत्यक्ष ही कहा गया है कि—

राजापुर परगने में जाय कों श्री गोस्वामीजी के वंश की प्रजा वास करती हैं।

तो फिर इस 'वंश की प्रजा' का अर्थ क्या ? क्या इसमें उक्त 'गोसाईं राज्य' की झलक नहीं ? जो हो, कहना अभी यह है कि इस लेख के पहले का अभी कोई ऐसा प्रमाण उपलब्ध नहीं जिससे राजापुर से तुलसीदास का संबंध जुटता हो। हाँ, रीवाँ-नरेश श्री रघुराज सिंह जी ने तुलसीदास को राजापुर का वासी अवश्य कहा है। किंतु

रघुराज सिंह का उल्लेख

तुलसी कृत रामायणौ, तुम सब देहु पढ़ाय।
तौ जनु दीन्ह्यों दान जिय, पवनपूत कपिराय ॥

[भक्तमाला, पृष्ठ १९५-६]

और यदि उस समय 'राजापुर' में कोई 'तुलसी-मंदिर' होता तो ? तो क्या इस समय राजापुर में 'संकटमोचन' के अतिरिक्त तुलसी का कुछ और था ? कैसे कहा जाय ? उधर

तुलसी-मंदिर

'रामप्रसाद' जी का 'श्रीमहाराजचरित्र' तो कुछ और ही बोलता है और कभी भूल कर भी राजापुर का नाम नहीं लेता। हाँ, उसके अनुसार तो रामप्रसाद जी के इष्ट हनुमान हैं चित्रकूट के 'टीही' न कि किसी राजापुर के कोई 'संकटमोचन'। स्मरण रहे उन्हीं के विषय में कहा गया है—

परम सरिष्ट इष्ट निज जानी। पूजन करहिं कर्म मन बानी।
अति सनेह अर्चन जब करहीं। दृग राजीव श्रेनि जल झरहीं।

[श्रीमहाराजचरित्र, पृष्ठ ८०]

'चित्रकूट' का यश 'राजापुर' को क्यों मिला ? समाधान कौन करे ? सभी तो राजापुर के गहरे संस्कार से ग्रस्त हैं ? किंतु तो भी इतना तो मानना ही होगा कि इस 'राजापुर'-भक्ति का कुछ कारण है। राम-कृपा न सही, प्रभु-कृपा सही। कहीं न कहीं कारण तो अवश्य है। कृपा के बिना भला ऐसा कार्य किसी से सध सकता है ?

श्री सहाय की आशंका

पता नहीं, 'आरानिवासी' श्री शिवनंदन सहाय जी को सूझ क्या गया कि उन्होंने कुछ ताड़ कर तान ही तो दिया—

अतएव जिन कारणों से लोग राजापुर को इनका जन्मस्थान होना बताते हैं उनसे यह बात प्रमाणित नहीं होती। परन्तु राजापुर गोस्वामी जी को अपनाने की चेष्टा में बहुत तत्पर है। बहुत लोगों को निज पक्ष का प्रतिपादक बनाता जाता है और उसने अपने निकटवर्ती खटवार ग्राम निवासी बलदेव कवि से अपने माहात्म्य की कविता में अपने यहाँ यमुना के तट पर गोस्वामी जी का 'आगार' होना कहलवाया है।

[श्रीगोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ ५]

खटवारा की खानि

इतना ही नहीं अपितु और भी मजे की बात तो यह है कि राजापुर के एक नवीन खोजी श्री अयोध्याप्रसाद पांडेय जी की खोज में—

अभी हाल ही में प्राप्त खटवारा निवासी श्री बलदेवप्रसाद जी कृत 'कानूनगोय कायस्थ वंशावली' में भी दुबों का वर्णन है। इस ग्रंथ के अनुसार तुलसीदास जी की अनेक पीढ़ियों पूर्व दुबे लोग भी कायस्थों के साथ राजापुर आए थे और राजापुर के सवाईनाले में आबाद हुए थे—

राय मनोहर के कछु दिन मेंह क्रम ते दुई सुत जाए।
हेमराय अरु खेमराय हैं, प्रभु तेहि तेज बढ़ाए॥
ते दोउ बन्धु बघेल राज संग देश गहोरा आए।
बसे सवाईनाल यमुन तट, देहली पति बुलवाए॥
हेमराय जगदीश कृपा ते, सनद शाह ते पाए।
तेहिं अवसर चौदह परगन के कानूनगोय कहाए॥
तब ते मेरे पितामह लगि कोउ भूप भयो जोइ जोई।
शाह सुरकी बुन्देल अँगरेजहु, दिए सनद सोइ सोई॥

× × ×

संग द्विवेदी ब्राह्मण आए, कायस्थन के भाय कहाए।

हेमराय की अनेक पीढ़ियों के पश्चात् महात्मा तुलसीदास जी के समय में कायस्थ-कुलभूषण श्यामसुन्दर जी सम्राट् अकबर के कानूनगो तथा तुलसीदास जी के शिष्य थे और सम्राट् ने उन्हें तुलसीदास जी की सेवा के लिए नियुक्त किया था।

सुनहु वंश अब श्यामसुन्दर के, कानूनगोय रहे अकबर के।
रहे तासु गुरु तुलसीदासा, रामायण जिन्ह कीन प्रकासा।

[जन-भारती, भाग १, पृष्ठ ४४–५]

किंतु 'राजापुर' के दुर्भाग्य से 'बघेलवंशागमनिर्देश' की साखी इसके अनुकूल नहीं। उसके रचयिता श्री युगलदास को इसका पता नहीं। हाँ, उसका निवेदन अवश्य है–

देश गुजरात ते नरेश संग आए यहाँ
पुस्ति बहु तिन्हैं बीतीं कहाँ लौ गिनाइये।
चैनसिंह भे दीवान अति मतिवान खास–
कलम सुवंश राय तिनको सुनाइये।
लल्लू खास कलम कहाए नाम मंशाराम
भूपति अजीत बहु मान्यो सो जनाइये।
कायथ प्रसिद्ध साधु सुमति अगाध तासु
वंश गिरिधारी लाल नाम जासु गाइये॥

[भक्तमाला, पृष्ठ ११५७]

आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि श्री बलदेवप्रसाद जी को इतिहास का इतना बोध भी नहीं कि 'शाह सुरकी' के बाद और 'बुन्देल' के पहले वहाँ किसी मुगल और पठान का भी शासन था अथवा नहीं। हाँ, उन्हें इतना पता अवश्य है कि 'तुलसीदास' श्यामसुंदर के गुरु थे और श्यामसुंदर थे अकबर के कानूनगो। हो सकता है। परंतु कोई कह तो दे कि उसके पास इसका कोई

पक्का प्रमाण अँगरेजी शासन से पहले का भी है कि वस्तुतः गोस्वामी तुलसीदास का निवास राजापुर था ? हमने बघेल-विभूषण रघुराज सिंह का उल्लेख पहले भी किया था। यहाँ फिर उन्हीं की भाषा में कहना चाहते हैं कि—

जौन काल महँ तुलसीदासा। रामतत्त्व कीन्ह्यो परकासा।
तौने कालहि रहे गोसांई। रह्यो न दूसर तिनकी नाँई।
तैसहि अबहुँ गुणहु यहि काला। भक्त सरिस नहिं भक्त विशाला।

'अबहुँ' अर्थात् 'श्री रामरसिकावली' या 'भक्तमाला' की रचना (सं० १९२१ वि०) के समय। और 'भक्त' का संकेत है यह कि—

भक्तराज को अब चरित, वरणौं विमल विशाल।
जाको छीतूदास अस, नाम अहै यहि काल ॥१॥
राजापुर यमुना तट ग्रामा। तहाँ जन्म लीन्ह्यो मतिधामा।

[भक्तमाला, पृष्ठ १०६६]

स्मरण रहे इसी रघुराज सिंह ने तुलसीदास के विषय में कहा था—

राजापुर यमुना के तीरा। तुलसी तहाँ बसै मतिधीरा।

क्यों ? बसै क्यों ?

सो राजा रघुराज सिंह की गणना यद्यपि चरित्री धारा के भीतर ही होगी तथापि यह भूलकर भी भूलना न होगा कि वास्तव में राजा साहिब साहिबी प्रभाव के प्राणी हैं। तो भी यह तो कहने की बात हुई। समझने की बात यह है कि इन्हीं राजा साहिब के कथनानुसार राजापुर में—

एक समय नागा बहु आए। भक्तराज तिन काहँ टिकाए।
सराजाम सब भाँति समेटे। मिली न लकरी एकहु जेटे।

अँगरेजी लकरी एक ठामा। रहीं यत्न सों धरीं ललामा।
नागा कह्यो कहहु लै आवैं। रामदूत हम नाहिं डेरावैं।
यदपि भक्त वरज्यो तिन काहीं। लै आए लकरी भय नाहीं।
वरज्यो साहेब के चपरासी। नागा दीन्ह्यो मारि निकासी।
चपरासी साहेब फिरियादे। दौरे पकरन हेतु पयादे।
भक्तहि पकरि गए लै बाँदा। बोल्यो साहेब अति मदमादा।
चपरासी मारयो केहि हेतू। खनि जैहै तुव सकल निकेतू।
भक्त कह्यो हम कछु नहिं जानैं। रघुपति शासन सब थल मानैं।
तब कुरसी ते तुरत उठि, साहेब क्रोध अचेत।
मारन धायो भक्त को, लै कर में यक बेत ॥ ३ ॥
तेहि क्षण ताहि पटकि कोउ दीना। परयो विसंज्ञ भूमि दुख भीना।
बीबी रोवन लगी पुकारी। हाय हाय भो सभा मँझारी।
परी भागवत पग तब बीबी। रह्यो न होस सम्हारन नीबी।
भक्त कह्यो साहेब नहिं मरि है। जो प्रतिपाल साधु को करिहै।
साहेब उठ्यो दंड दुइ माहीं। दोउ कर गह्यो भक्त पद काहीं।
पुनि कीन्ह्यो अतिशय सत्कारा। चंदा करि धन दियो अपारा।
भक्त लौटि राजापुर आए। साधुन के उर आनंद छाए।
वसु दशशत चौरासी साला। धनुषयज्ञ तब कियो विशाला।
तामें अनुभव कियो महाना। मुकुट तेज तिनको दरशाना।
तब ते राम रूप नित करहीं। करि झाँकी आनंद उर भरहीं।

[भक्तमाला, पृष्ठ १०६६–७]

भक्तराज' के इस 'चरित्र' में हमने जो कुछ पढ़ा है यह है कि यहीं से सरकारी चंदे से कुछ राजापुर में होने की नींव पड़ी।

राजापुर पर साहिबी दृष्टि

आश्चर्य नहीं यदि किसी दिन कहीं यह पढ़ने को मिल जाय कि वास्तव में भक्त-राज छीतूदास ही आज राजापुर के तुलसी

मंदिर में श्री तुलसीदास की 'मूर्ति' के रूप में विराजमान हैं। किंतु यह तो कल की बात ठहरी। आज तो 'नागा' लोगों का 'लकरी'-कांड सामने है न ? सो ये नागा लोग यदि गोसांई अनूप गिरि किंवा राजा हिम्मतबहादुर के वर्ग के हों तो इसमें आश्चर्य क्या ?

राजापुर के तुलसीदास का पता अँगरेजी शासन के पहले इस जन को कहीं नहीं मिला। और तो और, भवानीदास ने भी कहीं राजापुर का संकेत नहीं किया। हाँ, एक स्थान का निर्देश उसमें अवश्य है जो यमुना-तट पर चित्रकूट से दिल्ली की यात्रा में पड़ा था। किंतु उसकी संगति स्यात्, 'तिकवाँ' से ठीक बैठती है। कारण कि उसके उपसंहार में कहा गया है—

देखि सांचिली प्रीति को, अमित अनुग्रह कीन्ह।
प्रतिमा राखे बल्लभहि, लखि उपासना दीन॥

[चरित्र, पृष्ठ ७३]

और इस 'अमित अनुग्रह' का पात्र था—

जमुना तट वासी नृप सुखरासी आगे आयौ लेना।
आदर बहु कीन्हो अति लै लीन्हो कहत दीन है बैना।

[वही, पृष्ठ ७२]

हमारी समझ में इसका मेल भूषण के इस कथन से आप ही हो जाता है—

द्विज कन्नौज कुल कस्यपी रतनाकर सुतधीर।
बसत त्रिविक्रमपुर सदा तरनि तनूजा तीर॥ २६॥
वीर बीरबल से जहाँ उपजे कवि अरु भूप।
देव बिहारीश्वर जहाँ विश्वेश्वर तद्रूप॥ २७॥

[शिवराज-भूषण, पृ० ८]

निदान राजापुर का यहाँ संकेत नहीं। कहाँ है, कोई कह तो दे कि उक्त चदे (सं० १८८४) के पहले का राजापुर-माहात्म्य क्या है और क्या है उसमें योग किसी राजा-महाराजा वा सेठ-साहूकार का। अभी तो 'राजापुर' की प्राचीनता ही संदिग्ध है। सरकारी दृष्टि से तो तुलसीदास के जन्म के समय 'राजापुर' की सत्ता ही न थी। ध्यान दीजिए। बाँदा-गजेटियर की कही बात है कुछ और ही। अनुवाद डा० माताप्रसाद गुप्त का है इस प्रकार—

कहा जाता है कि अकबर के शासन-काल में (सं० १६१३ से १६६२ तक) एक संत, जिसका नाम तुलसीदास था, और जो सोरों, तहसील कासगंज, जिला एटा का निवासी था, यमुना-तट के उस जंगल में आया जहाँ इस समय राजापुर आबाद है, और वहाँ पर ईश्वर-प्रार्थना और ईश्वर-ध्यान में दत्तचित्त रहने लगा। उसके पुनीत आचरण से प्रभावित होकर अनेक उसके अनुयायी हो गए, जो उसके समीप रहने लगे, और जब उनकी संख्या और बढ़ी वे व्यापार और धर्माचरण में लगे। [ये वे ही तुलसीदास थे जिन्होंने 'रामायण' की रचना की, और कस्बे में उनका मकान अब भी दिखाया जाता है। यह वस्तुतः एक कच्ची इमारत थी, किंतु अब पुनर्निर्मित हुई है और इसमें एक स्मारक और एक किंचित् खंडित प्रति 'रामायण' की है। स्मारक के साथ थोड़ी सी मुआफी प्राप्त है, किंतु इस समय के मुआफी-दार अनपढ़ और झगड़ालू हैं, और आदरणीय कवि की धार्मिक पवित्रता तथा उदारता की उन भावनाओं को प्रसार देने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करते हैं जिनका उपदेश कवि किया करता था। उक्त स्मारक में एक प्रस्तर मूर्ति भी है, जो कवि की मूर्ति कही जाती है, और जिसकी उत्पत्ति दिव्य बताई जाती है, और यह कहा जाता है कि यह मूर्ति राजापुर के निकट बालू में गड़ी हुई प्राप्त हुई थी। स्थानीय जनश्रुति

कहती है कि तुलसीदास का परिचय राजापुर से उस महेवा गाँव के एक ब्राह्मण घर में विवाह के कारण हुआ जो तहसील सिराथू जिला इलाहाबाद में है।] राजापुर में कुछ ऐसी विचित्र प्रथाएँ प्रचलित हैं जो तुलसीदास के उपदेशों से निकली हैं : कोई भी पत्थर या ईंट का मकान बनाने नहीं पाता, धनी से धनी लोग भी कच्चे मकानों में रहते हैं, केवल मंदिर ईंट के बनते हैं, नाई कस्बे में आबाद नहीं होने पाते, और बेड़ियों के अतिरिक्त दूसरी कोई नर्तकियों की जाति उसमें रहने नहीं पाती। कुम्हारों के लिए भी मकान बनाकर रहने के विषय में प्रतिबंध है और तमाम घड़े और मिट्टी के बर्तन बाहर से आते हैं। ये नियम अब अवश्य ही इतने ढीले हो गए हैं कि केवल तुलसीदास के मकान के पास–पड़ोस तक सीमित माने जाते हैं।

[तुलसीदास, तृ० सं०, पृष्ठ १५८–९]

इस अवतरण के संबंध में ध्यान देने की बात है कि उक्त डा० गुप्त की भाषा में—

गजेटियर के दो संस्करण हमें प्राप्त हैं—एक सं० १९३१ में और दूसरा सं० १९६६ में प्रकाशित, और इन दोनों में राजापुर की उत्पत्ति का इतिहास देते हुए तत्संबंधी स्थानीय जन-श्रुतियों का उल्लेख किया गया है। अंतर इतना ही है कि सं० १९३१ वाले संस्करण की कुल बातों के अतिरिक्त कुछ और बातों का उल्लेख भी सं० १९६६ में प्रकाशित संस्करण में किया गया है। प्राचीनता के आधार पर दोनों अंशों को उद्धृत करते समय वह अंश जो सं० १९६६ में प्रकाशित संस्करण में बढ़ाया गया है वर्ग कोष्ठकों के अंदर रखा गया है और शेष जो सं० १९३१ का है कोठकों के बाहर रहने दिया गया है।

[वही पृष्ठ, १५८]

तात्पर्य यह कि सं० १९३१ में यह बताने की आवश्यकता नहीं रही कि राजापुर के 'तुलसीदास' हैं कौन। हाँ, सं० १९६६ में इसकी आवश्यकता अवश्य आ पड़ी कि यह भी लिख कर प्रकट वा पुष्ट कर दिया जाय कि वस्तुतः यह तुलसीदास है कौन। फिर तो इशारे से काम नहीं चला। उसका कच्चा चिट्ठा भी सबके सामने आ गया। परंतु समझ में नहीं आता कि तत्कालीन माफीदार को कोसा क्यों गया है। सं० १९३१ में ही कवि-कीर्तन के लिए क्या किया जाता था? अचरज की बात नहीं तो और क्या है? क्या यह सच है कि—

राजापुर में कुछ ऐसी विचित्र प्रथाएँ प्रचलित हैं जो तुलसीदास के उपदेशों से निकली हैं?

यदि हाँ, तो प्रमाण मिलना चाहिए न? हमारी समझ में तो यह भी संकेत करता है कि वास्तव में राजापुर का तुलसीदास कोई शासक तुलसीदास है, ऐसी नीति उसी की चलाई हो सकती है, किसी भक्त तुलसीदास का इससे नाता क्या? है कहीं अन्यत्र भी किसी कवि वा संत का चलाई हुई ऐसी प्रथा? या सब कुछ 'तुलसीदास' के ही लिए संभव है?

५—तुलसी का जन्मस्थान

'वार्ता' की 'भावप्रकाश' टीका में श्री हरिराय जी ने जो 'और सो वे पूरब में 'रामपुर' गाम में जन्मे' लिख दिया है उसके 'पूरब' और 'रामपुर' के सहारे हमने यह देखने का प्रयत्न किया था कि इसकी संगति 'सोरों' से नहीं, हाँ, 'अयोध्या' से अवश्य बैठ सकती है और उसके आधार पर कहा जा सकता है कि 'रामपुर' अर्थात् 'अयोध्या' ही नंददास का जन्म स्थान है। कारण यह कि 'वार्ता' की भाषा में ही 'अयोध्या' 'ग्राम' है और है वह 'पूरब' में भी। साथ ही वहीं यह भी स्फुट किया गया था कि 'वार्ता' के 'सो वे नंददास और तुलसीदास दोइ भाइ हते' का सीधा और सच्चा अर्थ यही होगा कि तुलसीदास और नंददास सगे भाई थे, सहोदर थे। अतएव उसी के आधार पर यहाँ इतना और भी निवेदन कर दिया जाता है कि यदि यह ठीक है तो सामान्यतः तुलसीदास जी का जन्म-स्थान भी अयोध्या को मान लेने में कोई क्षति नहीं। कारण कि प्रायः सहोदरों का जन्म स्थान एक ही हुआ करता है। परंतु हमारा आग्रह कुछ ऐसा नहीं 'वार्ता' की बात आप को जँचे तो अच्छा और न जँचे तो और भी अच्छा। हमें उसके प्रमाण पर भरोसा नहीं। हमारी उसकी यथार्थता में आस्था नहीं। उससे किसी का जी भरे तो खेद क्या ?

वार्ता का प्रमाण

हाँ, तो निवेदन यह करना था कि चलते-खाते में कभी इस जन ने भी 'तुलसीदास' लिख वा बोल दिया था और उसका प्रकाशन भी किसी 'मित्र' की कृपा से किसी 'शक्ति कार्यालय' से हो गया था। उसमें कहीं प्रसंगवश कहा गया था—

जन्मस्थान का संकेत

तुलसीदास ने अपनी जीवनी को सूत्ररूप में एक ही घनाक्षरी में इस प्रकार व्यक्त करने का यत्न किया है—

बालपने सूधे मन राम संमुख भयो,
राम नाम लेत माँगि खात टूक टाक हौं।
पर्‍यो लोक-रीति में पुनीत-प्रीति रामराय,
मोह बस बैठो तोरि तरक तराक हौं।
खोटे खोटे आचरन आचरत अपनायो,
अंजनीकुमार सोध्यो राम पानि पाक हौं।
तुलसी गुसांई भयो भोंडे़ दिन भूलि गयो,
ताको फल पावत निदान परिपाक हौं।

[हनुमान बाहुक, छंद—४०]

इसमें 'बालपने', 'लोकरीति' अंजनीकुमार' और 'गुसांई भयो' आदि विशेष विचारणीय हैं। तुलसी के बालपन का सूकरखेत से जो संबंध रहा है वह मनमानी शोध की कृपा से आज और भी विकट हो उठा है, और पक्ष-विशेष का तो आग्रह ही यही है कि यही 'सूकरखेत' किंवा 'सोरों' तुलसीदास का जन्मस्थान भी है। सोरों की ओर से जो प्रमाण लाए गए थे उनकी प्रामाणिकता तो जाती रही और उनकी साधुता में भी बहुतों को संदेह हो गया। उधर अवध के सूकरखेत को लेकर जो 'मूल-गोसांई-चरित' बना था वह भी बनावटी ही निकला। उसको भी लोग स्वतः प्रमाण नहीं मानते। तुलसीदास स्वयं इस संबंध में मौन हैं, अथवा कुछ कहते भी हैं तो यही—

धरम के सेतु जग मंगल के हेतु भूमि
भार हरिबे को अवतार लियो नर को।
नीति और प्रतीति प्रीति-पाल चालि प्रभु मान
लोक बेद राखिबे को पन रघुबर को।
बानर बिभीषन की ओर के कनावड़े हैं,
सो प्रसंग सुने अंग जरै अनुचर को।
राखे रीति आपनी जो होइ सोई कीजै बलि
तुलसी तिहारो घर जायो है घर को॥

[कवितावली, उत्तरकांड-१२३]

'अंग जरै अनुचर को' में जो खीझ है वही 'तुलसी तिहारो घर जायौ है घर को' को और भी सशक्त बनाती है और बताना चाहती है कि इस 'घर जायौ है घर को' का रहस्य भी कुछ और ही है। हाँ, स्मरण रहे, तुलसी लोक और वेद दोनों की रक्षा को रघुबर का 'पण' बताते हैं, कुछ केवल वेद ही को नहीं, जिससे इस लौकिक संबंध की उपेक्षा की जाय। तुलसी को जो यहाँ अभिमान होता है वह 'घर जाया' लगाव का और भी घर का 'घर जाया' लगाव का। निश्चय ही तुलसीदास का घर कहीं अवध में ही था और वहीं था कहीं उनका जन्म- स्थान भी।

[तुलसीदास, पृष्ठ २३-४]

डा० गुप्त का तर्क

प्रसन्नता की बात है कि इसके विपक्ष में डा० माताप्रसाद गुप्त ने अपना मत प्रकट किया—

पं० चंद्रबली पांडे कहते हैं, 'निश्चय ही तुलसीदास का घर कहीं अवध में था, और वहीं था कहीं उनका जन्म-स्थान भी।' प्रश्न यहाँ पर यह है कि उद्धरण में आए हुए 'घर' शब्द की व्याप्ति कितनी है—क्या 'अवध' मात्र 'घर' शब्द की सीमा के अंतर्गत आवेगा? इस प्रसंग में इसी प्रकार की एक उक्ति कबीर जी की भी उद्धृत की जा सकती है—

कहि कबीर गुलाम घर का जीआइ भावै मारि।

[संत कबीर, पृ० ७२]

बनारस या मगहर कहीं भी कबीर जी का जन्म हुआ हो, किंतु न उनका घर अवध में था और न था वहाँ कहीं उनका जन्म-स्थान, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। अवतारवाद के विरोधी होने के कारण अवध से वे उस प्रकार का भावात्मक नाता भी नहीं जोड़ सकते थे जैसा तुलसीदास। इसलिए उपर्युक्त पंक्तियों से जो निष्कर्ष पांडे जी ने निकाला है, उस से सहमत होने में कठिनाई प्रतीत होती है।

[तुलसीदास, तृ० सं०; पृष्ठ १४०–१]

इसमें संदेह नहीं कि 'पांडे जी' के उक्त 'निष्कर्ष' से सहसा सहमत हो जाना सरल नहीं। किंतु डा० गुप्त की उक्त 'कठिनाई' का कारण शब्दशक्ति की सच्ची परख का अभाव और किसी पक्ष को झट उपेक्षणीय समझ लेने की फुर्ती का प्रभाव ही गोचर होता है। अपने पक्ष के प्रतिपादन के पहले ही हम यहीं इतनी और स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं कि उक्त डाक्टर साहब की दृष्टि में—

इसी प्रकार श्री रजनीकांत शास्त्री 'विनय-पत्रिका' की निम्नलिखित पंक्तियों से

दियो सुकुल जनम सरीर सुंदर हेतु जो फल चारि को।
जो पाई पंडित परम पद पावत पुरारि मुरारि को।
यह भरतखंड समीप सुरसरि थल भलो संगति भली।
तेरी कुमति कायर कलप बल्ली चहति बिषफल फली॥

[विनय० १३५]

गंगातट पर, और 'मानस' के निम्नलिखित सोरठे में आई हुई शब्दावली 'मुक्ति जन्म महि' से—

मुक्ति जन्म महि जानि ज्ञान खानि अघहानि कर।
जहँ बस संभु भवानि सो कासी सेइय कस न ॥

[मानस, किष्किंधा०, प्रारंभ]

उसमें तत्पुरुष के स्थान पर द्वंद्व समास मानते हुए काशी को तुलसीदास की जन्ममही कहते हैं। किंतु इस प्रसंग में 'कवितावली' की निम्नलिखित पंक्तियाँ निश्चयात्मक हैं :

चेरो राम राय को सुजस सुनि तेरो हर
पायं तर आइ रह्यो सुरसरि तीर हौं।
जीवे की न लालसा दयालु महादेव मोहिं
मालुम है तोहिं मरबेइ को रहत हौं।

[कविता०, उत्तर० १६६, १६७]

इनसे इस बात का पूर्ण निराकरण हो जाता है कि तुलसीदास का जन्म न केवल काशी में वरन् कदाचित् गंगातटवर्ती किसी भी स्थान में हुआ था।

[तुलसीदास, तृ० सं०, पृष्ठ १४१]

तो ऐसा स्यात् सरलता से कहा जा सकता है कि 'पांडे जी' के उक्त 'निष्कर्ष' का विरोध स्वयं 'तुलसी' से नहीं होता। कदाचित् कबीर से हो जाता है।

अनन्य की साखी

अच्छा। इसकी विवेचना में मग्न होने के पहले यहीं इतना और भी जान लें कि किसी 'अनन्य' की वाणी है—

जय जय तुलसीदास गुसाईं। सिया राम दृग दाईं बाईं।
रघुबर की बर कीरति गाई। जै अनन्य तिनके मन भाई ॥८४॥

भाई अनन्य मनहिं सुकीरति बिमल रघुबर राय की।
अति बिचित्र चरित्र बानी प्रकट कीनी भाय की।
कुटिल कलि के जीव तिन पै अति अनुग्रह तुम कर्‌यो।
त्रिविध ताप संताप हिय को दया करि सब को हर्‌यो॥ ८५॥

जै जै श्री तुलसी तरु जंगम राजई।
आनंद बन के माँहि प्रगट छवि छाजई।
कविता मंजरी सुंदर साजै।
राम-भ्रमर रमि रह्यौ तिहि काजै॥ ८६॥

रमि रहे रघुनाथ-अलि ह्वै सरस सोधों पाइकै।
अतिही अमित महिमा तिहारी कहों कैसे गांइकै।
तुलसी सु बृंदा सखी को निज नाम तें बृंदा सखी।
दास तुलसी नाम की यह रहसि मैं मन में लखी॥ ८७॥

यहाँ तक जिस 'तुलसीदास' का वर्णन हुआ है उसके विषय में आपकी जानकारी जो कुछ हो उसको अलग रख देखिए यह कि उसी 'अनन्य' का इसके आगे उल्लास है—

कोसल देस उजागर कीनौ। सबहिन को अद्‌भुत रस दीनौ।
छिन छिन उमगे प्रेम नबीनौ। उमड़ि घुमड़ि झर लाइ रँगीनौ॥८८॥

रंग की बरखा करी बहु जीव सन्मुख करि लिए।
जनकनंदिनि-राम-छवि मैं भिजै दीने जन-हिये।
बस निरंतर रहत जिनके नाथ रघुबर जानकी।
ते दास तुलसी करहु मो पर दया दंपति-दान की॥ ८९॥

रचना कुछ विलक्षण सी है अतः पूरी पढ़ लीजिए तो कदाचित् इसका मर्म मिले। अतः—

सुंदर सिया-राम की जोरी। वारौं तिहिं पर काम करोरी।
दोउ मिलि रंग महल मैं सोहैं। सब सखियन के मन को मोहैं॥९०॥

सकल सखियन में सिरोमनि दासतुलसी तुम रहौ।
करौ सेवन रुचिर रुचि सों सुजस की बानी कह्यौ।
दास यह तुव अनन्य तापर रीझि चरनन तर परी।
अहो तुलसीदास तुम्ह ही कृपा करि अपनी करी ।। ६१ ।।

[व्रजनिधि-ग्रंथावली, पृष्ठ २७५-६]

अनन्य माधव

'अनन्य' कवि की इस 'वाणी' का रहस्य तो तब खुले जब हम वस्तुतः 'अनन्य' को जान लें। रचना से लगता ऐसा है कि 'अनन्य' 'तुलसी' के समकालीन हैं। हम एक ऐसे 'अनन्य' को जानते हैं जिनका एक पद है—

तब ते कहाँ पतित नर रह्यौ।
जब ते गुर उपदेस दीन्ही नाम नौका गह्यौ।
लोह जैसे परसि पारस नाम कंचन लह्यौ।
कस न कसि कसि लेहु स्वामी अज न चाहन चह्यो।
उभरि आयौ बिरह बानी मोल महगे कह्यो।
खीर नीर ते भयो न्यारो नर्क ते निर्बह्यौ ।।
मूल माखन हाथ आयौ त्यागि सरवर मह्यौ।
अनन्य माधौ दास तुलसी भव जलधि निर्बह्यो ।।

[चरित्र, पृष्ठ ९५-६]

और इस 'अनन्य माधौ' का सहज परिचय है—

निकट रसूलाबाद के, ग्राम कोटरा नाम।
जहाँ अनन्य माधौ भए, बिदित जासु गुन ग्राम ।। ६ ।।

[वही, पृष्ठ ६४]

अक्षर अनन्य

'अवध' के इस 'अनन्य माधव' के अतिरिक्त एक दूसरे 'अनन्य' भी हैं जो साहित्य में 'अक्षर अनन्य' के रूप में ख्यात हैं। उनका परिचय है—

महाराज छत्रसाल के समकालीन अनन्य नाम के एक प्रसिद्ध कवि हो गए हैं। 'अनन्य' दतिया राज्य के अंतर्गत सेंहुड़ा के निवासी और जाति के कायस्थ थे। दतिया के राजा दलपतराय के पुत्र और सेंहुड़ा के जागीरदार पृथ्वीचंद के ये गुरु थे। इनका दूसरा नाम 'अक्षर अनन्य' भी है। इनका जन्म संवत् १७१० के लगभग हुआ। महाराज छत्रसाल इनकी कविताओं को पसंद करते थे और एकबार इनको महाराज ने दरबार में भी बुलाया था, पर सुनते हैं कि अनन्य कवि न आए। अनन्य कवि की कविता में तत्त्वज्ञान और धर्मोपदेश भरा रहता था। दुर्गासप्तशती का हिंदी-अनुवाद सबसे पहले अनन्य कवि ने ही किया था। दतिया राज्य से अनन्य कवि को एक जागीर मिली थी। इस जागीर पर अब भी अनन्य कवि के वंशजों का अधिकार है। अनन्य कवि की पुस्तकों में ज्ञानपचासा, राजयोग और विज्ञानयोग प्रसिद्ध हैं। इनसे और महाराज छत्रसाल से भी इसी विषय पर प्रश्नोत्तर हुए थे।

[बुंदेलखंड का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ २२६-७]

उपयोगी होगा यहाँ ऐसा ही एक प्रश्नोत्तर। 'अनन्य' कवि का प्रश्न है—

नारि तें होत नहीं नर रूप नहीं नर तें पुनि नारि बखानी।
जाति नहीं पलटै सुपनै मरेहू तें भूत चुरैल बखानी।
क्यों सखियाँ निज धाम की राजि भई नर रूप सों जाति हिरानी।
वेद सही किधौं बाद सही हमको लिखि भेजबी एक जबानी ॥५॥
जाति नहीं पलटै नर नारि की क्यों सखियाँ नर रूप बखानी।
जो नर रूप भयौ तौ भयौ पुरुषोत्तम सो ऋतु कैसे क मानी।
जो पुरुषोत्तम सों ऋतु होय तौ इतै कित नारिन के रससानी।
यह द्विविधा में प्रमाण नहीं हमको लिख भेजबी एक जबानी ॥६॥

महाराज छत्रसाल का उत्तर है—

दूर करहु द्विविधा दिल सो अरु ब्रह्म स्वरूप को रूप बखानो।
जाग्रति सुति सुषुति हु को तजि के तुरिया उनको पहिचानो।
तीनहूँ श्रेष्ठ कहे सब बेद सो पूर्व ऋषी हमहू ठहरानो।
कारण ज्यों भस्मासुर तारण कामिनि सो प्रभु आप दिखानो ॥१॥

बाद भयो पुरुषोत्तम सों अरु नेह बढ़ावन कों उर आनी।
ब्रह्म प्रताप तें यों पलटै तनु ज्या पलटै सब रंग में पानी।
जो नर नारि कहै हमको अजहूँ तिनकी मति जाति हिरानी।
भूत चुरैल अहैं सब झूठ महा हम सों सुन लीजिए एक जबानी ॥२॥

विवरण से लाभ नहीं, प्रयोजन इतना भर स्फुट कर देने का है कि यदि 'अक्षर अनन्य' को महाराज छत्रसाल का पक्ष भा गया तो गोस्वामी तुलसीदास के प्रति उनकी उक्त भावना सिद्ध हुई। अन्यथा उक्त रचना उन जैसे प्राणी से संभव नहीं।

ब्रजनिधि का संग्रह

जी। रचना किसी भी 'अनन्य' की हो, किंतु हो वह सभी दशाओं में सं० १८६० के पहले की ही। कारण यह कि 'ब्रजनिधि' के निधन का यही समय है और यह पद पाया गया है उन्हीं के 'हरि-पद-संग्रह' में।

अस्तु। जयपुराधीश्वर श्री सवाई प्रतापसिंह जी देव 'ब्रजनिधि' (सं० १८११–सं० १८६०) जी द्वारा संगृहीत इस 'अनन्य' कृत पद के आधार पर हम बिना किसी संकोच के धड़ल्ले से कह सकते हैं कि तुलसी का 'कोशल देश' से गहरा लगाव है। और अपनी समझ में तो—

कोसल देस उजागर कीनौ

का अर्थ ही भासता है कि 'कोसल देस' में जन्म लेकर तुलसी ने उसे धन्य कर दिया। फिर भी तुलसी के 'जीवन-वृत्त' के अध्ययन में उसकी भरपूर उपेक्षा की गई है और तुलसी-

जन्मस्थान की ऊहा

दास का घर ढूँढ़ा गया है कहीं प्रयाग के उधर ही। देखिए न, कहना डा० गुप्त ही का है। कहते हैं सभी को एक साथ एकत्र समेटते हुए—

कुछ दिनों पहले तक हाजीपुर, तारी तथा राजापुर ही अलग-अलग हमारे कवि के जन्म-स्थान होने का दावा करते थे, इधर एक और स्थान इस संबंध में आगे आया है: वह है सोरों। चित्रकूट के समीपस्थ हाजीपुर का उल्लेख पहले-पहल विल्सन ने किसी जन-श्रुति के आधार पर किया था। उसके अनंतर तासी ने भी विल्सन के ही आधार पर उसको उनका जन्म-स्थान माना। तारी का उल्लेख भी कदाचित् जन-श्रुति के अतिरिक्त किसी और आधार पर नहीं किया गया है। राजापुर और सोरों के पक्ष में अलग-अलग जो प्रमाण दिए जाते हैं, उनका निरी-क्षण नीचे किया जाएगा। किंतु जैसा हम देखेंगे, इनमें से भी किसी के पक्ष में इस प्रकार के साक्ष्य प्राप्त नहीं हैं जो सर्वथा निर्णयात्मक हों। यह अवश्य है कि प्राप्त साक्ष्यों के अनुसार अन्य समस्त स्थानों की अपेक्षा राजापुर के पक्ष में संभावना अधिक है।

[तुलसीदास, तृ० सं०, पृष्ठ १४१–२]

'राजापुर के पक्ष में संभावना अधिक' भले ही न हो पर पक्ष तो पुष्ट आज उसी का समझा जा रहा है

राजापुर का पक्ष

न ? समझ में नहीं आता कि राजापुर की सामग्री की खरी परीक्षा क्यों नहीं की जाती। उदाहरण के लिए श्री अयोध्याप्रसाद पांडे के इस कथन को लीजिए। आप पूर्ण विश्वास के साथ कहते हैं–

राजापुर के इतिहास का सिंहावलोकन करने से ज्ञात होता है कि इसने अपने कई नाम परिवर्तित किए हैं। यहाँ की उपलब्ध हस्तलिखित प्राचीन पुस्तकों की पुष्पिकाओं के आधार पर हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि राजापुर का प्राचीन नाम विक्रमपुर था और कालान्तर में रजियापुर अथवा राजापुर हुआ। इस मत की पुष्टि के लिए कुछ पुष्पिकाओं का उद्धरण देना नितान्त आवश्यक है।

(१) आभ्युदयिक श्राद्ध सं० १६९९ वि०

सम्बत् १६९९ समय मार्गावदि षष्ठी वुधवासरे, विक्रमपुर शुभस्थाने लिषितं गोसांईराम द्विवेदिनामिदं पुस्तकम् ॥ शुभमस्तु ॥

(२) षष्ठीपूजाविधिः सं० १८१९ वि०

महोडायां शुचो देशे धनधान्य कमाकुले।
विक्रमाख्य पुरे रम्ये, कालिदूयाद दक्षिणे तटे ॥ १ ॥
यादृशं पुस्तकं दृष्टा तादृशं लिष्यतं मया।
यदि शुद्धमशुद्धम्वा, मम दोषो न दीयते ॥ २ ॥
लिष्यतं मया रामदुवेदेन आप पाठार्थं हेतवे ॥ ३ ॥
मिती कार्तिक सुदि चतुर्दशी रवि वासरेक पुस्तक समाप्तम्।

(३) संध्योपासन निधिः—सं० १८३० वि०

सम्बत् १८३० शाके १८९४ समय नाम मार्गवदी २ भृगुसरुरेकः लिष्यतं। गहोरादेशान्तर्गत यमुनादक्षिणतटे विक्रमपुर-शुभस्थाने श्री महाराजाधिराज श्री राजाअजीतसिंह राज्ये, श्रीराजाहिन्दूपति भुज्यमाने, कालींजरगढ वर्तमाने पुस्तकं लिषितं श्री दुबे गोवर्द्धनेन लिषितं श्री दुबे दमरीराम पाठार्थम्।

ऋषि पंचमीव्रत कन्या—सं० १८३४ वि०

सं० १८३४ शाके १६९९ कीलकनाम संवत्सरे दक्षिणायणे वर्षाऋतौ श्रावणमासे शुक्लपक्षे षष्ठी शनिवासरेकः पुस्तकं समाप्तं। श्रीमद्वि-

वेदनाथ तस्यात्मज भैयाराम तस्यात्मज संगमलाल तस्यात्मज भैयारा लिषितं पुस्तकं शुभं भूयात् ।

उपरोक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि राजापुर का प्राचीन नाम विक्रम-पुर था, तथा वहाँ दूबे लोगों का ही बाहुल्य था और ये लोग पौरोहित्य कार्य ही करते थे क्योंकि यहाँ की सहस्रों हस्तलिखित कर्मकांड की पोथियाँ दुबों की ही लिखी हुई हैं। अतः राजापुर को 'दूबन का पुरवा' तथा तुलसीदास जी के पिता पराशर गोत्रीय पत्यौजा दुबे पं० आत्मा-राम जी को:—

सुकृती सत्पात्र सुधी मषिया। रजियापुर राजगुरू सुषिया

मानना तनिक भी सन्देहास्पद नहीं है।

[जनभारती, भाग १, पृष्ठ ४३–४४]

संदेहास्पद नहीं है तो न हो। परंतु सच तो कहें कि बाबा बेनीमाधवदास' के समय में इसका नाम था क्या ? आप तो स्वयं लिखते हैं न ?

राजापुर का उल्लेख

अस्तु हमें सं० १८१३ वि० में सर्वप्रथम राजापुर मिलता है, परंतु इस नाम का प्रचार कम था जैसा कि ऊपर उद्धृत पुष्पिकाओं से स्पष्ट है। परंतु राजापुर ही पूर्णरूपेण कब से प्रचारित हुआ, इस विषय में अभी अनुसंधान हो रहा है।

[वही, पृष्ठ ४६]

नम्र निवेदन है कि कृपया यह स्पष्ट करने का कष्ट करें कि प्रथम पुष्पिका में जो

गोसाईं राम

लिषितंगोसांई राम द्विवेदिनामिदं पुस्तकम्।

आया है उसका संकेत क्या है। नाम 'गोसांईराम' है अथव है 'गोसांई राम' द्विवेदी ? तात्पर्य यह कि गोसांई तुलसीदास के प्रसंग में यह 'गोसांई' शब्द बड़े महत्त्व का है। ऐसी धृष्टता का

कारण एक यह भी है कि द्वितीय पुष्पिका में नाम आया है किसी 'गोसांई' रहित 'रामदुवेद' का। यद्यपि प्रथम का समय सं० १६९९ वि० तथा द्वितीय का सं० १८१९ वि० कहा गया है तथापि उनका यह नाम-साम्य विचारणीय है। और नहीं तो इस 'गोसांई' के नाते सही।

'राजापुर' के इस घरेलू प्रमाण का प्रतिबिंब जब तक यथातथ्य प्रकाश में नहीं आ जाता तब तक हम इन पुष्पिकाओं का दर्शन पुण्य नहीं समझते और खरे रूप में स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि अतीत के अध्ययन में इनकी बाढ़ को रोकने का उपाय होना चाहिए। अन्यथा भविष्य में इनसे और भी अनर्थ की आशंका है। राजापुर जैसे स्थान में जब 'सहस्रों हस्तलिखित कर्मकांड की पोथियाँ दुबों की लिखी हुई हैं' तब समझ लीजिए कि निश्चय ही वहाँ 'ज्ञान' को स्थान नहीं। कारण कि किसी की 'पुष्पिका में अभी 'राजापुर' का नाम नहीं मिला। 'राजापुर' और 'विक्रम पुर' का तो साथ-साथ कहीं मिला ही नहीं। यमुना के दक्षिण तट पर क्या एकमात्र राजापुर ही बसा है जो उसी को विक्रमपुर मान लें ?

विक्रमपुर का महत्व

सचमुच 'राजापुर' को तुलसीदास का जन्म-स्थान सिद्ध करने की अनुपम सूझ है यह—

अनुपम सूझ

यों तो तुलसीदास जी ने अपने निवासस्थानादि के विषय कहीं एक शब्द भी नहीं लिखा है, परंतु मानस के उत्तरकांड के अयोध्या-वर्णन से ऐसा आभास होता है, मानों, महाकवि अपनी जन्म-भूमि राजापुर की एक झलक सांकेतिक भाषा में दे रहा हो, क्योंकि इस वर्णन में दोनों स्थानों के ढंग तथा प्रथा आदि में पूर्ण साम्य है। यथा—

बाजार रुचिर बनाइ बरनत, वस्तु किन गय पाइए।
जँह भूप रमानिवास तहँ की संपदा किमि गाइए।
बैठे बजाज, सराफ, बनिक, अनेक मनहुँ कुबेर ते।
सब सुखी सब सच्चरित सुंदर नारि नर सिसु जरठ जे।

उत्तर दिसि सरजू बह, निर्मल जल गंभीर।
बाँधे घाट मनोहर, स्वल्प पंक नहिं तीर॥

दूरि फराक रुचिर वर घाटा, जहँ जल पियहिं बाजि गज ठाटा।
पनिवट परम मनोहर नाना, तहाँ न पुरुष करहिं असनाना।

× × × ×

तीर तीर तुलसिका सुहाई। बृंद बृंद बहु मुनिन्ह लगाई।

इस सांकेतिक वर्णन में अपने इष्टदेव की जन्मभूमि-वर्णन के साथ ही साथ कवि ने अपनी जन्मभूमि की ओर संकेत कर दिया है, क्योंकि भक्त कवि प्रायः अपने इष्टदेव के साथ अपनी स्थिति का भी लक्ष्य करा देते हैं। यह बात 'मानस-प्रसंग' से भी स्पष्ट है, जहाँ कवि अपने इष्टदेव का स्वागत करने के लिए जमुना पार उतरने पर ठीक उसी स्थान में जहाँ उसकी जन्मभूमि थी, अर्थात् राजापुर जिला बाँदा में 'तापस' के रूप में प्रकट हो जाता है, और अपने इष्टदेव को वहाँ विश्राम करा कर उसके शाही-स्वागत का आयोजन करता है। अस्तु 'अयोध्या-वर्णन' के इस सांकेतिक वर्णन से यही व्यंजित होता है कि कवि की जन्मभूमि (राजापुर) के उत्तर में सरयू (यमुना-सांकेतिक अर्थ) नदी बहती है, नदी का जल निर्मल एवं गंभीर है तथा किनारे में तनिक भी कीचड़ नहीं है।

कि बहुना ? संक्षेप में—

उपरोक्त सभी बातें संकेत रूप में राजापुर का विशद वर्णन करती

हैं और इस मानस-सम्मत समस्त वर्णन का राजापुर में प्रत्यक्ष दर्शन होता है।

[वही पृष्ठ, ५१-५२]

क्यों न हो ? वही तुलसी का नित्यधाम जो है ? परंतु ? परंतु

राजापुर की लीला

का मुँह खुला नहीं कि राजापुर की सारी लीला आप ही प्रकट हो गई। वचन स्वयं गोस्वामीजी का ही है। लीजिए—

राम कीन्ह विश्राम निसि प्रात प्रयाग नहाइ।
चले सहित सिय लखन जन मुदित मुनिहि सिरु नाइ ॥१०८॥

राम सप्रेम कहेउ मुनि पाहीं। नाथ कहिअ हम केहि मग जाहीं।
मुनि मन बिहसि राम सन कहहीं। सुगम सकल मग तुम्ह कहँ अहहीं।
साथ लागि मुनि सिष्य बुलाए। सुनि मन मुदित पचासक आए।
सबन्हि राम पर प्रेम अपारा। सकल कहहिं मगु दीख हमारा।
मुनि बटु चारि संग तब दीन्हे। जिन्ह बहु जनम सुकृत सब कीन्हे।
करि प्रनामु रिषि आयेसु पाई। प्रमुदित हृदयँ चले रघुराई।
ग्राम निकट निकसहिं जब जाई। देखहिं दरसु नारि नर धाई।
होहिं सनाथ जनम फलु पाई। फिरहिं दुखित मनु संग पठाई।

बिदा किए बटु बिनय करि फिरे पाइ मन काम।
उतरि नहाए जमुन जल जो सरीर सम स्याम ॥१०९॥

सुनत तीर बासी नर नारी। धाए निज निज काज बिसारी।
लखन राम सिय सुंदरताई। देखि करहिं निज भाग्य बड़ाई।
अति लालसा बसहिं मन माहीं। नाउँ गाउँ बूझत सकुचाहीं।
जे तिन्ह महुँ बय बिरिध सयाने। तिन्ह करि जुगुति रामु पहिचाने।
सकल कथा तिन्ह सबहि सुनाई। बनहिं चले पितु आयसु पाई।
सुनि सबिषाद सकल पछिताहीं। रानी राय कीन्हि भल नाहीं।

मित्रों का कहना यह है यह सब कुछ 'राजापुर' की भूमि में एक तापस **घट रहा है; कारण यह है कि—**

तेहि अवसरु अेकु तापसु आवा। तेज पुंज लघु बयसु सुहावा।
कवि अलषित गति वेषु विरागी। मन क्रम बचन राम अनुरागी।
सजल नयन तन पुलकि निज इष्ट देउ पहिचानि।
परेउ दंड जिमि धरनि तल दसा न जाइ बखानि ॥११०॥
राम सप्रेम पुलकि उर लावा। परम रंक जनु पारसु पावा।
मनहुँ प्रेम परमारथु दोऊ। मिलत धरें तनु कह सब कोऊ।
बहुरि लखन पायन्ह सोइ लागा। लीन्ह उठाइ उमगि अनुरागा।
पुनि सिय चरन धूरि धरि सीसा। जननि जानि सिसु दीन्हि असीसा।
कीन्ह निषाद दंडवत तेही। मिलेउ मुदित लखि राम सनेही।
पिअत नयन पुट रूपु पियूखा। मुदित सुअसनु पाइ जिमि भूखा।

'तापस' को इसी दशा में छोड़ देखिए यह कि—

ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठए बन बालक ऐसे।
राम लखन सिय रूपु निहारी। होहिं सनेह बिकल नर नारी।

तो क्या इन बालकों में इस 'लघुवयस तापस' की गणना नहीं हो सकती? हो वा न हो, होता यह है कि—

तब रघुबीर, अनेक विधि सखहि सिखावनु दीन्ह।
राम रजायसु सीस धरि भवन गवनु तेइँ कीन्ह ॥१११॥

[रामचरितमानस, द्वि० सो०]

'तापस' का आना ही 'सखा' के जाने का कारण हुआ, ऐसा इस जन का मत है। कारण यह कि उसने तो पहले कभी संकल्प किया था—

नाथ साथ रहि पंथु देखाई। करि दिन चारि चरन सेवकाई।
जेहि बन जाइ रहब रघुराई। परनकुटी मैं करबि सुहाई।
तब मोहि कहँ जसि देबि रजाई। सोइ करिहौं रघुबीर दोहाई।

किन्तु यहाँ बिना बन का पता पाए ही चलता बना। क्यों? कारण हमारी समझ में 'तापस' का आना ही है। तापस का पता फिर नहीं रहा तो न रहे, किंतु यह समझ रखना चाहिए कि वह सदा साथ रहा अपने इष्टदेव के ही। वाल्मीकि का शिष्य तुलसी जो है।

'मानस' के टीकाकारों तथा तुलसी के विवेचकों के सामने सदा से यह प्रश्न रहा है कि वास्तव में इस 'तापस' का रहस्य क्या है।

तापस का रहस्य

'तापस का प्रसंग' क्षेपक है तो रहे पर इससे उसको जानने की जिज्ञासा का लोप कैसे हो सकता है? फलतः उसकी ऊहापोह भी बराबर होती रहती है। इस जन का सदा से विचार रहा है कि वास्तव में तुलसीदास ने अपने आप को ही 'एक तापस' के रूप में अंकित किया है। किंतु अब इसका विचार रंचक भी यह नहीं रहा कि इस प्रसंग का कारण है राजापुर तुलसी का जन्मस्थान होना। कारण है यह कि यह किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता कि राम ने राजापुर के सामने जाकर यमुना को पार किया और पार कर पुरवासियों का सुख भोगा। ध्यान देने की बात यहाँ यह है कि यदि 'राम' को राजापुर जाकर चित्रकूट जाना इष्ट होता तो प्रयाग से सीधे जल-मार्ग से प्रस्थान करते और सखा निषाद की सहायता से बड़ी सरलता से वहाँ पहुँच जाते। परंतु उन्होंने किया इसके विपरीत ही। कारण कुछ तो होगा ही। भूलिए नहीं। प्रयाग में भरद्वाज मुनि ने राम से प्रश्न किया था—

नाथ! कहिअ हम केहि मग जाहीं?

उत्तर में 'मुनि' ने कहने को कह तो दिया—

सुगम सकल मग तुम्ह कहुँ अहहीं।

किंतु करने को किया यह—

मुनि बटु चारि संग तब दीन्हे।

बटु कितनी दूर तक राम के साथ रहे, इसकी जानकारी भी वहीं सुलभ है—

ग्राम निकट निकसहिं जब जाई। देखहिं दरसु नारि नर धाई।
होहिं सनाथ जनम फलु पाई। फिरहिं दुखित मनु संग पठाई।

बस। इतना हुआ नहीं कि—

बिदा किए बटु बिनय करि फिरे पाइ मन काम।

उधर तो 'बटु' मार्ग दिखा अथवा अतिथि को 'जलाशय' तक पहुँचा 'आश्रम' को लौट पड़े और इधर—

उतरि नहाए जमुन जल जो सरीर सम स्याम।

हमारे मित्र कहते हैं कि बस इतने ही समय में राम 'राजापुर' पहुँच गए और इसलिए पहुँच गए कि वही तुलसी का जन्म-स्थान जो है। हो, पर तुलसी के इस राम का इस रूप में वहाँ जाना संभव नहीं। कारण कि यदि ऐसा करना ही होता तो सखा निषादराज की कृपा से उनके साथ जल-मार्ग से राजापुर तक बड़ी सरलता से पहुँच जाते। परंतु उन्होंने ऐसा किया नहीं और भरद्वाज मुनि के आश्रम से सीधा बन का मार्ग लिया।

वाल्मीकि का शिष्य

राम चाहते क्या थे? निरा वन-वास अथवा वन में किसी का वासा वा आश्रम? सो हमारी समझ में राम का लक्ष्य था अभी 'वाल्मीकि' का दर्शन करना और इसी हेतु प्रयाग में प्रश्न उठा था—

केहि मग जाहीं।

उधर से जो समाधान हुआ उसमें राम के परम रूप का संकेत यों ही नहीं किया गया। नहीं, उसमें भी उसी भाषा में कह दिया

गया कि इसका ध्यान हम लोगों को भी है। आप से कार्य तो हमीं लोगों को कराना है फिर आपको इसकी चिंता क्या ? होना निश्चित है। उसे बस कर भर देना है। निदान अपनी सीमा तक बटु पहुँचा कर लौट पड़े और फिर वाल्मीकि का बटु अपनी सीमा में स्वागत करने के हेतु निश्चित स्थान पर पहुँच गया। इसी से तो तुलसी की स्पष्ट उक्ति है–

कबि अलषित गति वेषु बिरागी।

जी। इसी के साथ ही इसी से इतना और भी–

मन क्रम वचन राम अनुरागी।

और टुक ध्यान तो दीजिए। कवि की वाणी है चलते-चलते प्रकरण के अंत में–

तब रघुबीर श्रमित सिय जानी। देखि निकट बटु सीतल पानी।
तहँ बसि कंद मूल फल खाई। प्रात नहाइ चले रघुराई।
देखत बन सर सैल सुहाए। बालमीकि आश्रम प्रभु आए।

भूलिए नहीं, इसी के ठीक पहले तुलसी का ही उद्घोष है–

अजहुँ जासु उर सपनेहु काऊ। बसहुँ लखनु सिय राम बटाऊ।
राम धाम पथ पाइहि सोई। जो पथु पाव कबहु मुनि कोई।

अधिक क्या ? मुनि को सूचना मिली और—

सुचि सुंदर आश्रमु निरखि हरषे राजिव नेन।

की स्थिति हुई नहीं कि—

सुनि रघुबर आगमनु मुनि आगे आयेउ लेन ॥१२४॥

भाव यह कि इस प्रसंग में कहीं 'राजापुर' को स्थान नहीं। इससे उसका कोई लगाव नहीं। यह यमुना-पार-यात्रा तो कहीं प्रयाग के पास ही हुई है। कहाँ हुई है ? हमारा प्रतिपाद्य नहीं, फिर भी संकेत के रूप में कहा जा सकता है कि जहाँ 'वाल्मीकि'

भावावेश का कारण

के राम की हुई है। जहाँ राम की होती आई है, और फिर जहाँ उनके पश्चात् भरत तथा जनक की हुई है। तुलसी का वही परंपरागत मार्ग है।

कहा और कुछ समझ कर कहा गया है—

अयोध्या से यमुना जी पहुँचने तक गोस्वामी जी कहीं भी इस प्रकार भावावेश में नहीं आए जिस प्रकार यमुना जी के पार करने पर आए। इसी प्रदेश में राजापुर है और जन्मभूमि के अनुराग से ही गोस्वामी जी ने ग्रामवासी स्त्री-पुरुष आदि का मार्मिक और अत्यंत प्रभावशाली वर्णन अपनी अलौकिक अनुभूति से इसी प्रदेश से संबंधित किया है।

[वीणा, वैशाख सं० १९९५, पृष्ठ ५५१]

किंतु समझने में भूल भी पक्की हुई है। उसमें भ्रांति का मसाला जो है। कौन नहीं जानता कि 'शृंगवेरपुर' तक के राम कुछ और ही राम हैं। रथ पर जमे हुए राम पर हृदय की वर्षा कैसी ? हाँ, रथ से हटे नहीं कि—

राम लखन सिय रूप निहारी। कहहिं सप्रेम ग्राम नर नारी।
ते पितु मात कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठए वन बालक ऐसे।
एक कहहिं भल भूपति कीन्हा। लोयन लाहु हमहि बिधि दीन्हा।
तब निषादपति उर अनुमाना। तरु सिंसुपा मनोहर जाना।

'निषादपति' के बिदा होने पर राम आगे बढ़े तो 'कवि अलषित गति' का भाव जगा और उस भाव-साधना का प्रकाश हुआ जिसकी आभा में 'राम धाम पथ' आप ही

जन्मभूमि की कल्पना

झलक उठा। भाव की इस प्रवणता का कारण है 'कारुणिक मुनि' का करुण प्रसार। वाल्मीकि मुनि के क्षेत्र में पहुँचे नहीं कि भारती क करुण कंठ

फूट पड़ा और पाषाण भी मोम बन कर पिघल उठा। निश्चय ही जो कुछ हुआ मुनि-प्रसाद का फल हुआ। उसे जन्मभूमि का प्रसव समझना भूल है। सो भी राजापुर की स्थिति तो उसी 'वीणा'-वाणी में तो यह है—

प्रयाग से चित्रकूट के बीच में यमुना-तट से भौंरी बगरेही की पहाड़ी पर लालापुर एक गाँव है। वहीं ओहन (वाल्मीकि) नदी के किनारे पर पहाड़ी के ऊपर वाल्मीकि जी का एक छोटा सा मंदिर है। यह राजापुर से पूर्व-दक्षिण कोई दस मील है। यहाँ से चित्रकूट सोलह सत्रह मील के लगभग है। यमुना से यह स्थान दस मील के लगभग है।

'राजापुर' मार्ग में नहीं पड़ता तो राम वहाँ गए क्यों? प्रश्न उठना स्वाभाविक है। तो समाधान भी वहीं पहले से ही धरा है। देखिए—

मेघदूत में भी कालिदास ने रामगिरि से अलका जाते समय मार्ग में न पड़ने पर भी, मेघ से उज्जयिनी होते जाने का अनुरोध करवा कर—

वक्रः पन्था यदपि भवतो प्रस्थितस्योत्तराशां,
सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मास्म भूरुज्जयिन्याः।—

जैसे अपना उज्जयिनी-प्रेम प्रदर्शित किया है वैसे ही गोस्वामी जी के कथा-प्रसंग से युक्त इस वर्णन से इस प्रदेश के प्रति उनका स्वाभाविक अनुराग ही सूचित होता है। जब उनके श्रीराम अपने जन्मस्थल, अयोध्या को बैकुंठ से श्रेष्ठ कह कर उसके प्रति अपना प्रेम प्रकट करते हैं, तब उनका स्वयं अपने जन्म-प्रदेश के प्रति ऐसा करना नितांत उचित और स्वाभाविक है।

[वीणा, वही, पृष्ठ ५५१-२; पादटिप्पणी]

परंतु जब तुलसी ने ऐसा किया भी हो। राम ऋजु मार्ग से गए हैं कुछ 'वक्र' से नहीं।

हाँ, यह सत्य है कि राम ने ललक में आकर बड़े उल्लास से पुष्पक विमान पर बैठे-बैठे कहा था—

सुनु कपीस अंगद लंकेसा। पावन पुरी रुचिर यह देसा।
जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। बेद पुरान बिदित जगु जाना।
अवधपुरी सम प्रिय नहि सोऊ। येह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ।
जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तर दिसि बह सरऊ पावनि।
जा मज्जन ते बिनहि प्रयासा। मम समीप नर पावहिं बासा।
अति प्रिय मोहि इहाँके बासी। मम धामदा पुरी सुखरासी।
हरषे सब कपि सुनि प्रभु बानी। धन्य अवध जो राम बखानी।

किंतु विधि की विडंबना का प्रसार तो देखिए कि आज—

धन्य अवध जो राम बखानी।

की धन्यता का प्रसार हो रहा है 'राजापुर' में। और किस भाव से इसका 'सांकेतिक अर्थ' लगाया जा रहा है तुलसी के पक्ष में 'राजापुर'। समझ में नहीं आता है कि आज यह धड़-पकड़ कैसी। हमारी दृष्टि में तो सचाई यह है कि वस्तुतः 'अवधपुरी' ही तुलसी की जन्मभूमि और 'अवध' ही उनका 'जन्मदेश' है। अच्छा होगा 'अनन्य' की वाणी को एक बार फिर कंठ कर लें। स्पष्ट कहते हैं—

कोसल देस उजागर कीनौ। सबहिन को अद्‌भुत रस दीनौ।
छिन छिन उमगे प्रेम नबीनौ। उमड़ि घुमड़ि झर लाइ रंगीनौ ॥८८॥

और इस 'रंग' के प्रसंग में किसी अवसर के लिए कृपया

एक सखी

इतना और टाँक लें कि 'मानस' के 'तापस' की भाँति ही 'गीतावली' में एक 'सखी' भी है जिसकी खोज श्री ज्ञानवती त्रिवेदी ने की थी और जिसके विषय में कभी 'कल्याण' में कुछ लिखा भी

था। यहाँ तुलसी का गीत ही पर्याप्त है। सुनिए। उसी तापसी प्रदेश की बात है—

सखि! नीके कै निरखि कोऊ सुठि सुंदर बटोही।
मधुर मूरति मदनमोहन जोहन-जोग,
बदन सोभासदन देखिहौं मोही ॥ १ ॥
साँवरे गोरे किसोर, सुर मुनि चित्त-चोर,
उभय अंतर एक नारि सोही।
मनहुँ बारिद बिधु बीच ललित अति,
राजति तड़ित निज सहज बिछोही ॥ २ ॥
उर धीरजहि धरि, जन्म सफल करि,
सुनहि सुमुखि! जनि विकल होही।
को जानै कौने सुकृत लह्यौ है लोचन-लाहु,
ताहि तें बारहि बार कहति तोही ॥ ३ ॥
सखिहि सुसिख दई, प्रेम-मगन भई,
सुरति बिसरि गई आपनी ओही।
तुलसी रही है ठाढ़ी, पाहन गढ़ी सी काढ़ी,
न जानैं कहाँ तें आई, कौन की को ही ॥४॥१६॥

[गीतावली, अयोध्याकांड]

'तुलसी रही है ठाढ़ी' के कारण यदि कोई इसको 'तुलसी' कहे तो क्षति क्या है ? 'अनन्य' ने खुल कर यों हीं नहीं लिख दिया है 'तुलसी' को सखी। नहीं। उनके वैसा लिखने का कारण है। 'गीत' को दृष्टि में रख कर पढ़ें यह–

सकल सखियन में सिरोमनि दासतुलसी तुम रही।

और कृपया भूल न जाएँ कि इसके संबंध में स्वयं कवि का कथन है–

न जानैं कहाँ ते आई, कौन की को ही।

अर्थात् वह उक्त प्रदेश की न थी। हाँ, कहीं बाहर से उस अवसर पर टपक पड़ी थी। तो फिर 'तापस' को ही क्यों उक्त प्रदेश का मान लें और क्यों न दोनों को ही एक साथ ही 'तुलसी' मान लें? तुलसी के इस रूप की चर्चा कुछ अन्यत्र भी हो चुकी है।

जन्मभूमि का निर्देश

गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'अवध' के विषय में जो उद्गार प्रकट किए हैं उनमें कुछ उनका अपना भी हो तो इसमें आश्चर्य क्या? तुलसी का विश्वास है—

राम-राज भइ कामधेनु महि सुख संपदा लोक छाए।
जनम जनम जानकीनाथ के गुनगन तुलसिदास गाए ॥२३॥

[गीतावली, लंका कांड]

किंतु इस जन्म में तुलसीदास का जन्म कहाँ हुआ? क्या तुलसीदास जी कहीं कुछ भी इसका संकेत नहीं करते? हमारी धारणा है कि बात ऐसी है नहीं। हमारी समझ में तो तुलसीदास अपनी रचनाओं में जहाँ तहाँ इसका निर्देश करते रहते हैं। 'यह प्रसंग जानै कोउ कोऊ' की व्यंजना कहाँ तक फैलती है, इसे कौन कहे, पर इतना तो प्रायः सबको विदित ही है कि 'जन्मभूमि' की यह ममता तुलसी की अपनी नहीं। हाँ, इसमें अपनी जन्मभूमि की ममता हो तो ठीक ही है। कारण कि 'सूरदास' के राम भी तो प्रायः इसी अवसर पर यही कहते दिखाई देते हैं। देखिए न उनके राम का 'बखान' है—

हमारी जन्मभूमि यह गाउँ।
सुनहु सखा सुग्रीव-बिभीषन, अवनि अयोध्या नाउँ।

देखत बन-उपवन - सरिता - सर, परम मनोहर ठाउँ।
अपनी प्रकृति लिए बोलत हौं, सुरपुर मैं न रहाउँ।
ह्याँ के बासी अवलोकत हौ, आनँद उर न समाउँ।
सूरदास जौ बिधि न सँकोचै, तौ बैकुंठ न जाउँ ॥१६५॥
[सूरसागर, नवम स्कन्ध]

भाव-साम्य का कहना ही क्या ? वह तो आप ही सब कुछ कह रहा है। हाँ, सूरदास के यहाँ इस 'प्रसंग' की गूढ़ता का कोई निर्देश नहीं है। निश्चय ही तुलसी ने यहाँ कुछ और भी कहने का प्रयत्न किया है। इस 'प्रसंग' की व्याख्या में टीकाकारों में जो होड़ लगी है 'मानस-पीयूष' में एकत्र देखी जा सकती है। हम यहाँ उसकी मीमांसा में नहीं पड़ते। हाँ, प्रसंगवश इतना संकेत अवश्य कर देना चाहते हैं कि तुलसी के मतानुसार—

तुलसी का अवतार

निज इच्छा प्रभु अवतरइ सुर महि गो द्विज लागि।
सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोच्छ सब त्यागि ॥२६॥
[रामचरितमानस, चतुर्थ सोपान]

ऐसी स्थिति में स्वयं तुलसी का अवतार इस काल में कहाँ हुआ होगा ? तुलसी कहते हैं—

भाई सों कहत बात कौसिकहि सकुचात,
बोल घन घोर से बोलत थोर थोर हैं।
सनमुख सबहि बिलोकत सबहि नीके,
कृपा सों हेरत हँसि तुलसी की ओर हैं ॥६॥७१॥
[गीतावली, बालकांड]

किंतु, यह तो 'तब' की स्थिति हुई न ? तुलसी के इस जीवन का वृत्त क्या ? सो तलसी का निवेदन है—

भरत, राम, रिपुदवन, लषन के चरित-सरित अन्हवैया।
तुलसी तब के से अजहुँ जानिबे रघुबर-नगर-बसैया ॥६॥९॥

[वही]

जन्म-स्थान का पता

परन्तु विवाद 'जन्म' को लेकर उठा है कुछ 'वास' को लेकर नहीं। निदान 'वाद' को दृष्टि में रख कर कहना चाहिए कि वस्तुतः तुलसीदास का जन्म-स्थान कहाँ है। सो हमारा पक्ष है 'अवध' कारण यह कि तुलसीदास का ही निवेदन है अपने राम से—

भयो न तिकाल तिहूँ लोक तुलसी सो मंद,
निंदै सब साधु, सुनि मानौं न सकोचु हौं।
जानत न जोग हिय हानि मानौं, जानकीस!
काहे को परेखो पातकी प्रपंची पोचु हौं।
पेट भरिबे के काज महाराज को कहायों,
महाराज हू कह्यौ है प्रनत-बिमोचु हौं।
निज अघ जाल, कलिकाल की करालता
बिलोकि होत ब्याकुल, करत सोई सोचु हौं ॥१२१॥

अपनी स्थिति का अंकन हो गया तो वहीं शरण में आने का कारण बताया गया किस भावभरी भंगी में! कितना सटीक कहना है—

धरम के सेतु जगमंगल के हेतु, भूमि-
भार हरिबे को अवतार लियो नर को।
नीति औ प्रतीति-प्रीति-पाल चालि प्रभु मान,
लोक वेद राखिबे को पन रघुबर को।
बानर बिभीषन की ओर के कनावड़े हैं,
सो प्रसंग सुने अंग जरै अनुचर को।

राखे रीति आपनी जो होइ सोई कीजे बलि,
तुलसी तिहारो घरजायउ है घर को ॥१२२॥
[कवितावली, उत्तर०]

हमारी बुद्धि जहाँ तक काम करती है और हमारे ज्ञान का जहाँ तक प्रसार है वहाँ तक तो हम निर्विवाद रूप में धड़ल्ले से कह सकते हैं कि हो न हो इसमें तुलसीदास के घर का स्फुट उद्घोष है। पर करें क्या? कहीं से कोई प्राध्यापक जी बीच ही में बोल पड़ते हैं कि अरे! ऐसा अर्थ लगाने से घोर अनर्थ हो जायगा। तपस्वी करें क्या? उनके सामने कबीर का यह पद बाधक रूप में खड़ा है–

घर का गुलाम

फुरमानु तेरा सिरै ऊपरि फिरि न करत बीचार।
तुही दरीआ तुही करीआ तुझै तै निसतार॥
बंदे बंदगी इकतीआर।
साहिबु रोसु धरउ कि पिआरु॥ १ ॥
नामु तेरा आधारु मेरा जिउ फूलु जई है नारि।
कहि कबीर गुलामु घर का जीआइ भावै मारि॥ २ ॥
[संत कबीर, पृष्ठ ७२]

और अर्थ किया गया है इसका–

तेरा आज्ञा-पत्र मेरे सिर-माथे है। उस पर फिर मैं क्या विचार करूँगा? तू ही नदी है, तू ही कर्णधार है और तुझी से मेरा निस्तार होगा। ऐ बंदे, तेरा अधिकार तो केवल वंदना में ही है। स्वामी चाहे क्रोध करे या प्यार करे। तेरा नाम ही मेरा आधार है। (इसका परिणाम यह होगा कि) आग भी फूल की भाँति हो जायगी। कबीर

कहता है कि मैं तो तुम्हारे घर का गुलाम हूँ। चाहे मारो, चाहे जिलाओ।

[वही, परिशिष्ट (क), पृष्ठ ३१]

डा० रामकुमार वर्मा जी ने 'गुलामु घर का' को 'घर का गुलाम' भर कर दिया। इसको समझाने की आवश्यकता उनको न पड़ी। उनके सहयोगी डा० माताप्रसाद गुप्त को भी इसमें इसके अतिरिक्त और कुछ न सूझा कि यहाँ 'घर' का स्पष्ट निर्देश है। बस सोचना क्या था? तान ही तो दिया, बिना कुछ भी विचार किए कि 'मगहर' परंपरा से 'अवध' के भीतर है, यह कि—

डा० गुप्त की भ्रान्ति

बनारस या मगहर कहीं भी कबीर जी का जन्म हुआ हो, किंतु न उनका घर अवध में था और न था वहीं कहीं उनका जन्म-स्थान, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है।

ठीक है। अपना अपना अध्ययन ठहरा। जिस प्राध्यापक की दृष्टि में तुलसी के—

तुलसी तिहारो घर जायउ है घर को

को वही व्यंजना प्राप्त है जो कबीर के—

कहि कबीर गुलामु घर का

को, उससे किसी शब्दशक्ति के गंभीर ज्ञान की आशा ही क्या? निदान उससे इतना ही नम्र निवेदन कर, कि यह जन इतना तो जानता ही है कि 'घर का गुलाम' मुहावरा है, शेष जनों से अनुरोध करता है कि कृपया वे तुलसी के कहे पर कान दे देखें यह कि तुलसी का मर्म क्या है और वे अपने आराध्य से चाहते क्या हैं और किस नाते से क्यों। सुनिए। 'घरजायउ है घर को'

'घरजायउ' का मर्म

'घरजायउ' का अर्थ आप को 'तुलसी शब्दसागर' में नहीं मिलेगा। कारण की मीमांसा में कौन पड़े? हाँ, इतना निश्चित है कि उसका संपादन हुआ है डा० माताप्रसाद गुप्त जी की देखरेख में। सो उनको इसमें कुछ अड़चन नहीं प्रतीत हुई। अन्यथा इसका अर्थ कुछ अवश्य दिया गया होता। हाँ, 'अनुचर' का अर्थ उसमें अवश्य दिया गया है—

दास सेवक

सो अब इसके सहारे इतना और समझ लीजिए कि—

सो प्रसंग सुने अंग जरै अनुचर को

में कुछ विशेष कहा गया है। कह तो दीजिए कि तुलसी की यह जलन कैसी? कहते हैं—

बानर विभीषन की ओर के कनावड़े हैं।

और 'तुलसी की ओर' के? कुछ न पूछिए। यही तो जलन का कारण है। और इसी से तो आगे चल कर अंत में खुल कर कह जाते हैं—

कीजै राम बार यहि मेरी ओर चखकोर।

कारण यह कि 'लोकवाद' सदा से यह रहा है कि पहले 'घर' की सुधि लेते हैं और फिर 'बाहर' की। 'घर में दीआ जला कर तब मसजिद में दीआ जलाते हैं, ऐसा लोकवाद है। 'घर से बैर और से नाता' को 'लोक' ठीक नहीं समझता। तुलसी का यहाँ यही पक्ष है। 'वेद' अथवा 'भक्ति' के नाते तो 'तुलसी' और 'वानर बिभीषन' में कोई भेद नहीं, परंतु 'लोक' का नाता इनका कुछ और ही है। वानर-विभीषन कहाँ के क्या ठहरे, किंतु तुलसी का नाता तो स्पष्ट है। वह निरा 'अनुचर' ही नहीं अपि तु 'घरजाया'

है। और सो भी निरा 'घरजाया' ही नहीं, 'घर' का 'घरजाया' है। कृपा कर समझ रखिए कि यह तुलसी आप का घर का गुलाम नहीं कि कहीं 'बाहर' के प्राणी को महत्त्व दें और यह चुपचाप सब कुछ देखता और सहता रहे। नहीं। 'घर' का होने के नाते इसका लौकिक दृष्टि से आप पर वह अधिकार है जो किसी भी बाहरी प्राणी का नहीं। अतएव यदि लोकलाज का कुछ भी ध्यान है तो इस पर अविलंब कृपा कीजिए। स्मरण रहे 'घर का गुलाम' मुहावरा विवशता का द्योतक है। कबीर इसी से अपने को 'घर का गुलाम' कहता है, किंतु तुलसी विवश नहीं। वह तो अपना अधिकार चाहता है। फलतः अपने स्वामी से खुलकर कह देता है किस चेतावनी के साथ—

> राखे रीति आपनी जो होइ सोई कीजै बलि,
> तुलसी तिहारो घरजायउ है घर को।

करने को तुलसी भी राम की प्रभुता के सामने क्या कर सकता है? किंतु फिर भी वह अपना अधिकार जमाता है और लोक-रीति से राम का सहज कृपापात्र बन जाना चाहता है। फलतः राम से अनुरोध करता है कि 'बाहर' पर अनुकंपा बहुत हो चुकी। अब कुछ 'घर' पर भी कृपा होनी चाहिए। कारण कि उसका दृढ़ विश्वास है जो—

> मुनि सुर सुजन समाज के सुधारि काज,
> बिगरि बिगरि जहाँ जहाँ जाकी रही है।
> पुर पाउँ धारिहैं उधारिहैं तुलसी हूँ से जन,
> जिन जानि कै गरीबी गाढ़ी गही है ॥ ४ ॥ ४१ ॥

[गीतावली, अयोध्याकांड]

'तुलसी' की इस आशा के विषय में कुछ न कह प्रसंगवश इतना निवेदन कर देना है कि न जाने क्या समझ कर कभी भवानीदास ने भी लिखा था—

अवध-संबंध

तहाँ ते चलि आए बहुरि, खैराबाद सुजान।
सकल सराहै भाग निज, करि आदर सनमान ॥ ४ ॥
मिलि तह साध सहेत करि, दीन वचन बहु भाखि।
लीन प्रेम ह्वै अति सुफल, माथ चरन तर राखि ॥ ५ ॥
दै करि आसिरबाद तिन, आए घाघर तीर।
जानि अवध सनबंध जिय, नैनन्ह आयौ नीर ॥ ६ ॥

[चरित्र, पृष्ठ १०६-७]

अन्तिम पंक्ति कुछ कहा चाहती है। 'अवध-संबंध' की जानकारी क्या ? तो भी आगे का लेख है—

अथ रामपुर प्रसंग दोहा।

'रामपुर' से तुलसी का लगाव क्या ? कौन कहे ? किंतु कहा वहीं उसी के आगे कहा यह गया है कि—

अवध रूप छायो द्रिगन, उमग्यौ प्रेम अपार।
मगन ध्यान रस दंड युग, दसा सरीर बिसारि ॥ १ ॥
पूजि बिबिध करि आरती, अतिहीं प्रेम अधीर।
वस्तु भावना भवन भरि, चले नगर रघुबीर ॥ २ ॥

[वही, पृष्ठ १०७]

तो फिर इस 'वस्तु भावना भवन भरि' का रहस्य क्या ? 'चले नगर रघुबीर' तो प्रत्यक्ष ही है। कारण कि यहीं कह दिया गया है—

आगे दई चलाइ वस्तु भरि दुइ जलजाना।
सह समाज चढ़ि चले करत रघुपति गुन गाना।
सै लख को एक ग्राम रामपुर नाम है ताको।
रोकि आगमनी नाव अटालो है यह काको।
अब बिन जगाति नहिं छूटि है, कह्यौ बहुत तिन मान नहि।
जम जाति कुजाति जगाति के, काहू की जेहि कानि नहि ॥ १ ॥

असवारी की नाव जबै पहुँची तेहि ठाऊँ।
साधन हू बहु कह्यौ बतायौ जद्यपि नाऊँ।
ताहू पर नहि मान तबै तिन पूछ गोसाँई।
कहा ग्राम को नाम कौन भुइधर यहि ठाँई।
कह्यौ हृदै राम को ग्राम यह, नाम रामपुर बिस्व भन।
छत्री जाति तन तदपि है रामदास मम नाम जन ॥ २ ॥

तब निज मन अनुमान किय, अब ऐसे सुभ ठौर।
आवै बस्तु जो काम तौ, हमहि न चाहिय और ॥ १ ॥
वस्तु अनेक अमोल अति, अरु बहु जिनिस सुदेस।
सब छाडै ज्यौ भेट किय, साध नरेस धनेस ॥ २ ॥

[वही, पृष्ठ १०७]

वस्तुतः हम जानना चाहते हैं कि सचमुच यह 'अवध सनबंध' क्या है और क्या है यह 'वस्तु भावना भंवन भरि' भी। कारण, हम तुलसी के जन्म-स्थान की खोज में हैं न ?

तुलसी चौरा

सो तुलसी के सौभाग्य से एक ऐसा भी स्थान अयोध्या में आज भी विद्यमान है जिसको लोग 'तुलसीचौरा' कहते हैं। इसी तुलसीचौरा के संबंध में किसी मोहन सांई का एक गीत है—

ख्याल बहरे शिकस्त

अवध की भूमी पवित्र सब है,
पवित्र तम उसमें है तुलसी चौरा।
तवाफ़ करते हैं रोज जिसका,
विरंचि नारद महेश गौरा ॥ १ ॥
वह घड़ी अजब थी कि जिस घड़ी
वह दरख्त बट का उगा यहाँ।
उसी शब में बढ के बुलंद शुद,
उसे कैसे कोई करे बयाँ।
हैराँ हुए सब देख कर
कुदरत इलाही दर जहाँ।
न खुला मुअम्मा किसी से भी
पोशीदा इसरारे निहाँ।
सुना न देखा किसी ने पहले
बना दिया इसने सब को बौरा ॥ २ ॥
अवध की भूमी···

जमाया आसन उसी के नीचे,
प्रसिद्ध मुनि योगिराज जी ने।
वे जानते मर्म भीतरी थे,
बता दिया था उन्हें किसी ने।
यहाँ पै काशी से जब गुशाईं,
पधारे श्री राम-रस से भीने।
सुना के आदेश अपने गुर का,
उन्हे ही सौंपा सब उस यती ने।
जला के तन योग अग्नि में तब,
सिधारा गुर पाद पद्म भौंरा ॥ ३ ॥
अवध की भूमी···

लगी जब इकतीसी राम नौमी,
गुशांई जी ने कलम उठाई।
उछाह से राम ब्याह तेंतिस,
समाप्ति तिथि मानसी सुहाई।
हुई जो पूजा की धूम सुरगन,
ने रामगाथा ये थी बढाई।
सुदिव्य मनि तीन शुचि अलौकिक,
सुघरता जिनकी कही न जाई।
खींचा था उनमें समेत परिकर
के रामजी का शबीह औरा ॥ ४ ॥
अवध की भूमी...

थी एक पर विष्णु जी की झाँकी
व दूसरे पर थी राम सी की।
व तीसरे पर अनुज हनुमत
विराजती मूर्ति सीय पी की।
उन्ही की पूजा वहाँ पै होती
चलाई मानों गुशांई जी की।
बना दिया मिरजा मानसिंह ने
फ़रश ज़मुर्रद व छत्रि ही की।
बहुत दिनों तक चहल-पहल थी
पलट गया फिर समय का दौरा ॥ ५ ॥
अवध की भूमी...

चढ़ा था शैतान सूबा के सिर
कि ताजपोशी की की तयारी।
उपाट कर फर्स तख्त साजा
दुखा के दिल औ रुला के झारी।

वह तख्त पर बैठने न पाया,
पहुँच के नौरंग ने जान मारी।
मुगल के घर रत्न फर्श छत्री
गुनाह बेलज्ज़त उसने चक्खा।
किए का फल हाथों हाथ धारी।
मुगल के घर रत्न फर्श छत्री
पहुँच गए दिल्लियाँ पिथौरा ॥ ६ ॥
अवध की भूमी···

रहा सहा वृक्ष वेदिका युत
जो था ही जिन्दा गवाह सब का।
बचा न वह भी बचे तो कैसे
कि हिल गए जब कि सातों तबका;
वह कैसा संवत् था बेवफा का
कि नाम बारह ख़वास रब का।
वो जन्म त्रेता का कैसे माने,
कि छयकरी तिथि हमन को जँचका।
अब ईंट की वेदिका बची है,
उसी पै सिर हम पटकते धौरा ॥ ७ ॥
अवध की भूमी···

ए पाक बट मैं तो खाके तन हूँ,
बहुत ही नापाक नजसे दामन।
मगर तुम्हारे ही साये में तो
हुआ है मेरा हमेशः पालन।
इसी से छूने का हक़ है हासिल,
छिमा करो पितृदेव भगवन्।

कपीस के कुंड में सिवारूँ,
तुम्हारा तन की बने न ईंधन।
तुम्हारी आसक्ति घेरती है
हृदय हमारा मचा के हौरा ॥ ८ ॥
अवध की भूमी···

तुम्हीं तो त्रेता के सोमवट हो,
तुम्हीं हो द्वापर के वंशीवट भी,
तुम्हीं बने कलि में बोध बिरवा
वो मानसी वट यहाँ प्रकट भी।
तुम्हीं अक्षयवट तुम्ही अचल बट
तुम्ही हो कैलास तरु मुकट भी।
तुम्ही हो नटराज बट वपुष में।
तुम्ही मेकलसुता के तट भी।
तुम्हारा गुन गावे साईं मोहन।
बनेगा जब तक अजल का कौरा ॥ ९ ॥
अवध की भूमी···

[माधुरी, वर्ष १४, खंड २, सं० ३, पृष्ठ ३६४–५]

अवधवासी लाला सीताराम ने न जाने किस आधार पर गीतकार 'मोहन साईं' को 'एक मुसलमान फकीर' मान लिया है। हमारी समझ में तो यह 'साईं-मत' के प्रवर्तक संत मोहन साईं ही हैं। इनकी रचनाओं को सरसरी दृष्टि से देखने का सौभाग्य, इस जन को इस संप्रदाय की प्रसिद्ध गद्दी चनउर (सुल्तानपुर) के महंत के पास मिला था। उस समय कुछ उतार भी लिया गया था। किन्तु असावधानी के कारण आज

मोहन साईं

कुछ भी शेष नहीं रहा। परंतु विश्वास है कि उद्योग करने से इस संप्रदाय के लोगों से कुछ और सूत्र उपलब्ध हो सकेगा। इस संप्रदाय में 'घट रामायण' की प्रतिष्ठा है पर 'रामचरितमानस' की उपेक्षा नहीं। यदि संवत् १८१२ में यह विद्यमान थे तो गीत का काल कुछ और पहले भी हो सकता है। अस्तु। हम देखते हैं कि इसका भी समय प्रायः वही ठहरता है जो भवानीदास कृत उक्त 'चरित्र' का है। निदान दोनों की संगति पर ध्यान देना चाहिए।

वट और छतरी

मोहन साईं के सामने 'वट' निरा वृक्ष नहीं। हाँ, किसी सत्ता का प्रतीक है इधर भवानीदास का भी कथन है किसी 'बंसीबट प्रसंग' में ही। ध्यान से पढ़ें। लिखते हैं—

ग्राम एक जैरामपुर, मिसिरिष पूरब भाग।
भूमिपाल तेहि ग्राम को मिलो सो बड़ अनुराग॥ १॥
नाम सुनत जैरामपुर, कियौ गोसाईं छोह।
तब तिन अपने दुख कह्यौ, मरहि तुरुक के ग्रोह॥ २॥
नृपति महा दारुन दुखद, रहत हमारे ग्राम।
चरन धारिए कृपा करि, पूजे सब मन काम॥ ३॥
लखि सो प्रीति को भाव नाम को नातो मान्यौ।
पर दुख दुखी दयाल सहज तहँ कीन्ह पयानो॥
वृंदावन जब रहे तहाँ एक सहज सुभाए।
सूखि डार बट छरी सो प्रभु सहजहि रखवाए॥
कहि बंसीबट परसाद सो, गाडि जमायौ दियौ जल।
तह कस्यौ थापना बट रुचिर, व्याधि नास हित करि अचल॥ ४॥

अगहन सुकुला पंचमी, राम व्याह उत्साह।
सदा रहस बट तर करेहु, होइहि सब सुख लाह॥ ५॥

एक दिन रहि तह कीन्ह पयानो बट साखानि विप्रहरि आनो ।
पलुहै लाग सो वृक्ष सुपासा, अल्पकाल बढि लाग अकासा ।
प्रीति पेखि दुख दूर पराने, मिटे ताप परिताप पराने ।
बट बढ़ि भो विस्तार अति, छाया विसद गभीर ।
श्रुति अज्ञा तेहि तर अजहु, होत रहस की भीर ॥ ६ ॥
[चरित्र, पृष्ठ १०५-६]

आशय यह कि 'मोहन साईं' के उक्त गीत में जो 'वट' का उल्लेख हो गया है उसकी भी एक परंपरा है और परंपरा है एक 'रामविवाह' दिन की भी। अतएव उनसे अलग रह कर देखा जाय तो सब से विलक्षण दिखाई देगा इसमें 'छत्री' का प्रसंग ही। 'मिरजा मानसिंह' ने किसकी 'छतरी' बनवा दी? तुलसी की 'छतरी' तो वह हो नहीं सकती। कारण कि तुलसी की अन्त्येष्टि-क्रिया काशी में हुई थी न? और तब मिरजा मानसिंह जीवित कहाँ थे जो किसी की'छतरी'बनवाते? तो फिर'छतरी'वह थी किसकी? तुलसी के माता-पिता की हो सकती है। अथवा किसी 'मन्दिर' की ही मान लें, पर किसी भी दशा में यह तो विचार करना ही होगा कि वास्तव में इसका महत्त्व क्या जो यहीं योगिराज का आसन जमा और यहीं तुलसी को कुछ मंत्र मिला। हमारी मति में तो रह रह कर यही आता है कि हो न हो यही तुलसी का जन्म-स्थान हो। अन्यथा हो क्या सकता है?

६—तुलसी की जन्म-दशा

अपनी स्थिति

जन्म-स्थान का ठीक पता भले ही किसी को न हो पर सभी उसकी पहिचान में मग्न हैं और उसकी ऊहा में 'अनुश्रुति' वा 'जनश्रुति' के सहारे न जाने क्या क्या कुलाबा मिला रहे हैं। हमारी ओर से इसमें क्या कुछ योग मिला है और कहाँ कहाँ से क्या क्या कौड़ी लाकर क्या कुछ करतब दिखाया गया है आदि की मीमांसा भी आगे चलकर कभी हो सकती है। किंतु आज तो हमारी स्थिति यह है कि जैसे हम कुछ अद्भुत के चक्कर में पड़ गए हैं। हम मानते हैं कि सचमुच आज हमारी स्थिति बहुत कुछ यही है, फिर भी हम अपनी सी सोचने में जो इतने लीन हैं उसका कारण है कि हमारी दृष्टि में अतीत हमारे साथ है और साथ है हमारे तुलसी की वह विभूति भी जो कागद के मुँह से आज भी बहुत कुछ बोलने को तैयार है। उसकी वाणी कान को पार कर हृदय में स्थान बना चुकी है और उसके प्रकाश में हम भली भाँति देख रहे हैं कि हमारे तुलसी की रामकहानी क्या है।

तुलसी की कहानी जो हो, आज की धारणा तो प्रायः यह है—

२९. 'कवितावली' का एक छंद—जिसके कुछ शब्द ऊपर उद्धृत किए जा चुके हैं—इस प्रकार हैं :

> जायो कुल मंगन बधावनो बजायो सुनि
>
> भयो परिताप पाप जननी जनक को।
>
> बारे तें ललात बिललात द्वार द्वार दीन
>
> जानत हो चारि फल चारि ही चनक को।

तुलसी सो साहिब समर्थ को सु सेवक है
सुनत सिहात सोच बिधि हू गनक को।
नाम राम रावरो सयानो किधौं बावरो जो
करत गिरी तें गरु तिन ते तिनक को॥
[कविता०, उत्तर० ७२]

एक और दूसरा छंद उसी ग्रंथ का इस प्रकार है :

मातु पिता जग जाय तज्यो बिधि हू न लिखी कछु भाल भलाई।
नीच निरादर भाजन कादर कूकर टूकनि लागि ललाई।
राम सुभाउ सुन्यो तुलसी प्रभु सो कह्यो बारक पेट खलाई।
स्वारथ को परमारथ को रघुनाथ सो साहब खोरि न लाई॥
[कविता०, उत्तर० ५७]

और 'विनय-पत्रिका' का एक पद इस प्रकार है :

राम नाम रावरोई हित मेरे।
स्वारथ परमारथ साथिन्ह सों भुज उठाइ कहौं टेरे॥
जननी जनक तज्यो जनमि करम बिनु बिधिहु सृज्यो अवडेरे।
मोहुँ से कोउ कोउ कहत रामहि को सो प्रसंग केहि केरे॥
फिर्यो ललात बिनु नाम उदर लगि दुखउ दुखित मोहि हेरे।
नाम प्रसाद लहत रसाल फल अब हौं बबुर बहेरे॥
[विनय०, २२७]

उसी का एक अन्य पद इस प्रकार है :

द्वार द्वार दीनता कही काढ़ि रद परि पा हूँ।
हैं दयालु दुनि दस दिसा दुख दोष दलन छम कियो न संभाषन काहूँ॥
तनु जन्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु पिता हूँ।
काहे को रोस दोस काहि धौं मेरे ही अभाग मो सों सकुचत छुइ छाहूँ॥
दुखित देखि संतन कह्यो सोचै जनि मन माहूँ।

तोसे पसु पाँवर पातकी परिहरे न सरन गए रघुबर ओर निबाहूँ ॥
तुलसी तिहारो भए भयो सुखी प्रीति प्रतीति बिना हूँ ।
नाम की महिमा सील नाथ को मेरे भलो बिलोकि अब ते सकुचाहुँ सिहाहूँ ॥
[विनय०, २७५]

और उसी का पुनः एक अन्य पद इस प्रकार है :

तुम जनि मन मैलो करो लोचन जनि फेरो ।
सुनहु राम बिनु रावरे लोकहूँ परलोकहुँ कोउ न कहुँ हित मेरो ॥
अगुन अलायक आलसी जानि अधम अनेरो ।
स्वारथ के साथिन्ह तज्यो तिजरा को सो टोटकं औचट उलटि न हेरो ॥
[वही, २७२]

३०. 'कवितावली' के उपर्युक्त प्रथम छंद में कवि दरिद्र कुल में जन्म-ग्रहण के उल्लेख के पश्चात् कहता है कि उसके

'माता-पिता को बधावे का बजाया जाना सुनकर परिताप और पाप हुआ ।'

कुछ लेखकों का विचार है कि इसका कारण यह है कि तुलसीदास पाप-कर्म की संतान थे । प्रस्तुत लेखक यह नहीं समझ पाता है कि माता ने जब तुलसीदास को अपने उदर में स्थान देकर पाप नहीं किया था, तो उनके जन्म के बधावे को सुनकर उसने पाप कैसे किया; साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उपर्युक्त पंक्ति में केवल 'माता' ही नहीं है, 'पिता' भी है ।

वास्तविकता कुछ और ही जान पड़ती है । हिंदुओं में पुत्र का जन्मोत्सव बहिन जैसे कुछ मान्य संबंधियों द्वारा प्रसूता तथा नवजात शिशु के लिए उपहार प्रस्तुत करते हुए ढोल तथा संगीत के साथ, जिसे 'बधावा' कहते हैं, मनाया जाता है । और 'बधावा' लेकर आनेवाले इन संबंधियों को उनको मान्य होने के कारण प्रथा यह है कि 'बधावे'

में लाए गए उपहार से अधिक मूल्य की सामग्री अथवा नक़द रक़म दी जाती है। मूल में पुत्र-जन्म पर मूल-शांति के पूर्व यह नहीं मनाया जाता, क्योंकि उन हिंदुओं के घरों में जिनके यहाँ ज्योतिष - शास्त्र में विश्वास है, यह एक सामान्य धारणा है कि अभुक्तमूल में उत्पन्न हुआ पुत्र पिता अथवा माता के जीवन के लिए अनिष्टकारक होता है, और साधारण कोटि के मूल में भी उत्पन्न होने पर कम से कम पिता के धनादि की क्षति करता है। अतएव मूल - शांति होने पर ही यह आनंदोत्सव मनाया जाता है। विशेष कर उस मूल की दशा में जिसे कि अभुक्तमूल कहते हैं, और बिना मूल-शांति हुए तो 'बधावा' सुनना भी वर्जित माना जाता है। अतः एक संभावना तो मूल में जन्म के कारण की हो सकती है, किंतु एक अनन्य संभावना यह भी हो सकती है कि 'मंगन' होने के कारण तुलसीदास के माता-पिता बधावा लाने वाले मान्य संबंधी को कुछ भी भेंट करने में—अथवा उसके उपहारों के अनुरूप कुछ भेंट करने में—सर्वथा असमर्थ रहे हों। दूसरी संभावना अधिक दृढ़ ज्ञात होती है, यह स्वतः प्रकट है, क्योंकि मूल में शिशु का जन्म होने पर आनंदोत्सव शिशु के माता-पिता की अनुमति से ही हो सकते हैं, किंतु शिशु के माता पिता की आर्थिक स्थिति की अपेक्षा न करके मान्य संबंधी बधावा लेकर आते ही हैं।

[तुलसीदास, तृ० सं०, पृष्ठ १६४-६]

डा० गुप्त की चेष्टा

डा० माताप्रसाद गुप्त 'बधावनो बजायो' की स्थिति को सुलझाते हुए आगे बढ़ते हैं और कुछ और भी विचार कर एक नवीन जिज्ञासा को जन्म देते हैं। देखिए न, इसी के पश्चात् वहीं आप यह भी लिखते हैं—

३१. 'कवितावली' के उपर्युक्त दूसरे छंद और 'विनय-पत्रिका' के उपर्युक्त प्रथम पद में कवि कहता है

मुझे जन्म देकर मेरे माता-पिता ने मुझे छोड़ दिया, तथा दैव ने भी मुझे अभागा उत्पन्न किया।

इसी प्रकार वह 'विनय-पत्रिका' से उद्धृत उपर्युक्त दूसरे पद में कहता है

मेरे माता-पिता ने मुझे उत्पन्न करके कुटिल कीट की भाँति त्याग दिया।

तो क्या कवि के माता-पिता का उसके शैशवकाल ही में उसे त्याग देना संभव है? कभी-कभी ऐसा विचार भी प्रकट किया गया है कि अभुक्तमूल में उत्पन्न होने के कारण ही उन्होंने उसको त्याग दिया होगा। परंतु यह कारण प्रतीतिजनक नहीं ज्ञात होता, क्योंकि कुछ ऐसे साधनों की भी व्यवस्था है जिनके द्वारा मूल-शांति की जा सकती है। दरिद्रता भी पुत्र-त्याग का कारण नहीं हो सकती, क्योंकि दरिद्र से दरिद्र माता-पिता भी अपनी संतान को नहीं छोड़ते हैं। तो फिर इस घटना का समाधान हम कैसे कर सकते हैं?

[वही, पृष्ठ १६६]

समाधान का प्रयत्न

दरिद्रता अथवा परिस्थिति विशेष में क्या होता है, इसकी छानबीन से कोई लाभ नहीं। इस प्रकार की परित्यक्ता संतान के उदाहरण जहाँ-तहाँ पाए जाते हैं। तो भी हमें देख लेना है 'इस घटना का समाधान' भी। सो समाधान है–

३२. 'विनय-पत्रिका' के उपर्युक्त दूसरे उद्धरण में आए 'कुटिल कीट' से सोरों वाले किसी 'कुटीला' नामक ऐसे कीड़े का आशय निकालते हैं जो संतान को जन्म देने के बाद ही मर जाता है, और कहते हैं कि कवि के माता-पिता का देहांत उसके जन्म के कुछ ही समय बाद हो गया, इसलिए उसने ऐसा लिखा है। 'कुटिल कीट' से अन्य अर्थ

भी लेते हुए प्रायः यही विचार प्रतिपादित किया गया है। किंतु इस अर्थ में शंका यह है कि कदाचित् मादा कीड़ा ही मरता होगा, नर नहीं, और यहाँ पर 'मात पिता हूँ' है। दूसरे, 'तनु जन्यो' के जो पाठ-भेद मिलते हैं वे इस अर्थ का विरोध करते हैं: सं० १६६६ की एक प्रति में, जिसका परिचय आगे दिया जायगा, 'तनुज तऊ' पाठ मिलता है; और एक अन्य प्राचीन प्रति में, जिसकी तिथि अज्ञात है और जो प्रस्तुत लेखक के संग्रह में है, 'तुचा तजत' पाठ है। इनमें से कौन सा पाठ प्रामाणिक है, यह कहना कठिन है, किंतु जब तक वैज्ञानिक रीति से ग्रंथ का पाठ-निर्णय नहीं हो जाता, सं० १६६६ की प्रति का पाठ हम न ग्रहण कर इधर की प्रतियों का पाठ ग्रहण करें, इस बात का पर्याप्त कारण नहीं दिखाई पड़ता; और इस पाठ को लेने पर 'कुटीला' आशय की संगति नहीं बैठती; उससे तो 'कुटिल कीट' से सर्प का अर्थ लेना ही अधिक संगत होगा।

[वही, पृष्ठ १६७]

जीवन-निर्वाह

किंतु 'सर्प का अर्थ' भी स्थिति को समझने में कहाँ तक साथ देगा? वस्तुतः उसका भाव क्या? डा० गुप्त इसकी चिन्ता में नहीं पड़ते और आगे के प्रघट्टक में इसके बाद की स्थिति को समझाने में मग्न होते हैं। उनका विवेचन है–

२३. दरिद्र कुल में उत्पन्न होकर माता-पिता से शैशव-काल ही में वंचित होने के कारण हमारे कवि के लिए भिक्षा के अतिरिक्त जीवन-निर्वाह का कदाचित् और कोई साधन नहीं रहा। अपने जीवन के प्रभात ही में उसे इसलिए जीवन-संघर्ष का सामना करना पड़ा। 'विनय-पत्रिका' के ऊपर उद्धृत प्रथम पद में वह कहता है:

उसे जब तक राम नाम का अवलम्बन नहीं प्राप्त हुआ, वह उदर के लिए लालायित फिरता रहा।

इसी प्रकार 'विनय-पत्रिका' के उपर्युक्त दूसरे पद में वह कहता है :

> अपने दाँतों को दिखलाते हुए तथा उनके चरणों का स्पर्श करते हुए मैं अपनी आपदाओं की कथा बारंबार दुहराता रहा, इस संसार में दसों दिशाओं में ऐसे दानी तथा परोपकारी पुरुष हैं जो कि मेरी कठिनाइयों का अंत कर सकते थे, परंतु किसी ने मुझसे बात भी नहीं की।

इसी प्रकार 'कवितावली' के उपर्युक्त छंद में वह कहता है:

> बचपन से ही मैं द्वार-द्वार निरुद्देश्य, क्षुधित, शोकग्रस्त और चारों पुरुषार्थों को चने के चार दानों का पर्यायवाची जानता हुआ भटकता रहा।

इसी प्रकार 'कवितावली' के दूसरे छंद में वह कहता है कि

> मेरे माता-पिता ने मुझे जन्म देकर त्याग दिया था, और विधाता ने भी भाग्यहीन बनाया था, इसलिए निरादर का पात्र तथा कादर बनकर मैं कुत्तों के आगे फेंकी हुई रोटी के टुकड़ों की लालच में इधर-उधर फिरा करता था।

३४. 'विनय-पत्रिका' के ऊपर उद्धृत तीसरे पद में कवि ने कहा है कि उसे

अगुन अलायक आलसी अधम अनेरो

जानकर उसके स्वार्थ के साथियों ने छोड़ दिया। इस पद में माता-पिता द्वारा परित्यक्त होने का स्वतंत्र रूप से उल्लेख नहीं हुआ है, इसलिए यह संभव है कि 'स्वारथ के साथिन्ह' से उसका तात्पर्य 'माता-पिता' से ही हो, किंतु सं० १६६६ की उपर्युक्त प्रति में, जिसका परिचय आगे दिया जाएगा, 'अधम' के स्थान पर पाठ 'अधन' है। यद्यपि बिना वैज्ञानिक पाठ-निर्धारण के यह पाठ भी निश्चयपूर्वक प्रामाणिक स्वीकार

नहीं किया जा सकता, किंतु तब तक कोई कारण नहीं कि इस पाठ को न ग्रहण कर अपेक्षाकृत इधर की प्रतियों का अन्य पाठ ग्रहण किया जाए, और इस पाठ को ग्रहण करने पर 'स्वारथ के साथिन्ह' से इतर संबंधियों का आशय लेना पड़ेगा।

[वही, पृष्ठ १६७-८]

डा० गुप्त की शोध और भी आगे बढ़ती है और वहीं इस रूप में अंकित होती है—

३५. 'विनय-पत्रिका' के उपर्युक्त दूसरे छंद में वह कहता है:

संतों ने मुझे दुखित देखकर कहा 'चिंता न करो' राम ने उन पशुओं को भी नहीं भुलाया जो कि तुम से भी अधिक घृणित तथा पापी थे; यदि कोई उनकी शरण में जाता है तो राम उसकी सहायता उस समय तक करते हैं जब तक कि वह दुखों से मुक्त नहीं हो जाता है।

और जैसे ही तुलसी ने राम का आश्रय लिया, वह सुखी हो गया। यद्यपि उसके हृदय में आराध्य के प्रति भक्ति और पूर्ण निर्भरता न थी। फलतः, कवि कदाचित् अपने प्रारंभिक जीवन से ही राम-भक्ति में मन लगाने लगा था। इसी समय वह तत्कालीन रामभक्त संतों के संपर्क में आया हुआ जान पड़ता है, जिन्होंने उसे राम के तईं अपने को समर्पित करने का उपदेश दिया।

[वही, पृष्ठ १६८]

अस्तु, अब तक इस प्रकार जो खतियाया गया है उसका सार यह निकला कि—

यह सर्वथा असंभव नहीं कि उपर्युक्त आत्मोल्लेखों में थोड़ा-सा अतिरंजन भी हो, परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि कवि को अपने जीवन के प्रारंभ में ही माता-पिता से वंचित और अनाथ होने के कारण

भयानक दरिद्रता और अपमान का सामना करना पड़ा था, किंतु इन्हीं परिस्थितियों में उसे संतों का साथ भी मिल गया, जिन्होंने उसकी जीवन-धारा बदल दी।

[तुलसीदास, तृ० सं० पृष्ठ १६८]

सब कुछ सही। आप जैसा कुछ कह रहे हैं वही ठीक है, किंतु वह सब कुछ हो कहाँ रहा है? क्या 'राजापुर' में यह सब संभव है? इसका विचार भी तो होना चाहिए न? परंतु आप का ध्यान इस ओर नहीं। हमारी समझ में तुलसी के जीवन को ठीक-ठीक समझना है तो हमें पहले ठीक से समझना है—

घटना-क्षेत्र

१. जायो कुल मंगन बधावनो बजायो सुनि
भयो परिताप पाप जननी जनक को।

२. जननी जनक तज्यो जननि करम बिनु बिधिहु सृज्यो अवडेरे।

३. हैं दयालु दुनि दस दिसा दुख दोष दलन छम कियो न संभाषन काहू।

४. स्वारथ के साथिन्ह तज्यो तिजरा को सो टोटक औचट उलटि न हेरो।

तथा—

५. दुखित देखि संतन कह्यो सोचै जनि मन माहूँ।

आदि तुलसी के आत्मकथन को।

सो पहले को ठीक से समझने के हेतु जो 'अभुक्त मूल' की कल्पना की गई थी वह कुछ किए बिना ही प्रवाद के रूप में प्रतिष्ठित हो गई और कुछ की दृष्टि में तो 'अनुश्रुति' हो बन गई। उसके संबंध में कभी श्री शिवनंदन सहाय जी ने ठीक ही लिखा था—

अभुक्तमूल

सब माता-पिता वज्रहृदय होते हों या नहीं परंतु अभुक्त मूल में जन्मे हुए बालकों की मूलशांति और गोमुखप्रसव शांति विधि भी शास्त्रानुसार की जाती है। और जब गोस्वामी जी के जन्म संवत् ही में विवाद है और कोई उसे १५५४, कोई १५८३ कोई १५८९, और कोई १६००–१६१० बतलाते हैं और मास-दिवस का कुछ पता ही नहीं तो अभुक्त मूल की बात उठानी ही अनुचित है। क्या किसी वर्ष, किसी मास, किसी दिवस में इनका जन्म क्यों न हुआ हो 'अभुक्त मूल' इनके पीछे लगा ही हुआ था ? यह तो बड़ा आश्चर्यजनक कौतुक है। जो लोग 'अभुक्त मूल' की कथा कहते हैं उन्हें प्रथम स्वामी जी की जन्म-कुंडली हस्तगत करके उसे सर्वसाधारण को दृष्टिगोचर कराना चाहिए।

[श्रीगोस्वामी तुलसीदास जी का जीवन-चरित्र, पृष्ठ १४]

और प्रायः इसी विचार को पुष्ट करते हुए श्री रामनरेश त्रिपाठी जी भी लिखते हैं–

यहीं पर यह बात भी हमें हल कर लेनी चाहिए कि तुलसीदास ने कवितावली में जो यह लिखा है–

जायो कुल मंगन बधावनो बजायो
सुनि पाप परिताप भयो जननी जनक को।

इसका अभिप्राय क्या है ? इसमें आए हुए 'पाप' शब्द से कुछ लोग तर्क करते हैं कि वे संभवतः पाप की संतान थे। यद्यपि यह बात एक साधारण बुद्धिवाला भी समझ सकता है कि पाप की संतान को जन्म देने का लांछन केवल माता पर लगाया जा सकता है, पिता तो इस विषय में प्रायः अनभिज्ञ ही रहता है। अतएव उसे परिताप क्यों होगा ? मंगन कुल में जन्म लेने की बात पर तो यह अनुमान किया जा सकता है कि वे भिक्षुक ब्राह्मण के कुल में जन्मे थे। पर उनके जन्म से उनके माता-पिता को पाप और परिताप क्यों हुआ ? कुछ

चरित-लेखकों ने इस पर यह विचार दौड़ाया है कि अभुक्तमूल में पैदा हुए थे; इससे उनके माता-पिता को दुःख हुआ, और वे यह भी कहते हैं कि इसी कारण से माता-पिता ने उन्हें छोड़ दिया। पहले तो अभी यही निश्चित नहीं कि वे १५८३ में उत्पन्न हुए थे, या १५८९ में। वे चाहे जब पैदा हों, हर वक्त अभुक्तमूल ही उनके मत्थे क्यों पड़ेगा? और यदि मान भी लिया जाय कि वे अभुक्तमूल में पैदा हुए थे, तो उनको छोड़ देने का क्या कारण था? जो ज्योतिषी अभुक्तमूल बतलाता है, वह उसका प्रायश्चित्त भी तो बतलाता है? अभुक्तमूल में कितने ही बच्चे पैदा होते रहते हैं, पर उनमें से कोई छोड़ नहीं दिया जाता। इससे अभुक्तमूल वाली कल्पना तो निस्सार जान पड़ती है।

[तुलसीदास और उनकी कविता, पहला भाग, पृष्ठ १११]

श्री त्रिपाठी जी की उद्भावना

यहाँ तक तो 'अभुक्तमूल' और 'पापसंतान' का निराकरण रहा। अब आगे का मत लीजिए। कहते हैं—

तुलसीदास के उक्त कथन का अभिप्राय मैं यह समझता हूँ कि तुलसीदास का जन्म लेना उनकी माता के लिये पाप हुआ, क्योंकि वह उनके जन्मते ही मर गई। और स्त्री के वियोग और एक नवजात, मातृहीन शिशु की प्राप्ति से उनके पिता को परिताप हुआ। मेरा अनुमान है कि 'भयो' के स्थान पर 'भयों' पाठ होगा। कवितावली की कोई प्रामाणिक प्रति ही इस गुत्थी को सुलझा सकती है। 'भयों' पाठ होने से अर्थ अधिक स्पष्ट हो जायगा। अर्थात् तुलसीदास कहते हैं कि मैं अपनी माता के लिए तो पाप रूप हुआ; क्योंकि वह उनके जन्मते ही मर गई; और अपने पिता के लिए परिताप स्वरूप हुआ; क्योंकि पिता को स्त्री का वियोग ही नहीं सहन करना पड़ा, बल्कि एक नवजात शिशु की सँभाल भी करनी पड़ी।

[वही, पृष्ठ ११२]

जी। त्रिपाठी जी ने 'भयो' के स्थान पर 'भयों' पाठ की उद्भावना ही नहीं की है। नहीं, उन्होंने तो साथ ही 'पाप' और 'परिताप' का क्रम भी बदल दिया है। अर्थात् मूल के

भयो परिताप पाप जननी जनक को

को आपने कर दिया है—

पाप परिताप भयो जननी जनक को।

जिससे 'पाप' का नाता 'जननी' तथा 'परिताप' का नाता 'जनक' से जुट गया है। इसके अतिरिक्त आपने 'बधावनो बजायो सुनि' की सर्वथा उपेक्षा कर दी है। जो किसी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता। इसी से कदाचित् डा० माताप्रसाद गुप्त को उस पर इतना ध्यान देना पड़ा है। परन्तु क्या उनका पक्ष साधु है ?

जायो कुल मंगन का मर्म

हमारी समझ में डा० गुप्त का मत निरा भ्रांत है। पहली बात तो डा० गुप्त की यह समझ में नहीं आती कि उन्होंने 'कुल मंगन' का अर्थ 'घर मंगन' कैसे समझ लिया और यदि ऐसा समझ ही लिया तो उसे 'दरिद्र' भी कैसे मान लिया। 'मंगन' के पास पैसा भी होता ही है। कभी कभी तो दाता से भी कहीं अधिक। आज भी भिखारी दान करते सुने जाते हैं और कभी कभी तो 'धनिक' के रूप में 'व्यवहार' तक पहुँच जाते हैं। दूसरी यह कि यदि उक्त 'मंगन' दरिद्र ही थे तो उनके 'मान्य संबंधी' इतने धनी कैसे हो गए कि उनके 'बधावा' का मूल्य इतना अधिक हो गया कि उसे सुना नहीं कि वे 'परिताप पाप' में घिर गए। निश्चय ही यह तुलसी का अभिमत नहीं। उक्त पंक्ति का अर्थ नहीं। सूझ फिर चाहे जिसकी हो। 'बधावनो बजायो सुनि' का अर्थ 'बधावा सु आयो सुनि' करना कहाँ का न्याय है ? न

हो, पर किया क्या जाय ? इसके विना किसी प्रकार यह पिनाक टूटता भी तो नहीं ? निवेदन है, नहीं। टुक धीरज धरें तो काम वने। कृपया 'कुल मंगन' का अर्थ 'दरिद्र' न करें और उसे 'ब्राह्मण कुल' का पर्याय समझें। सो क्यों ? तो अभी इतना मान लें। फिर आगे देखा जायगा। और न भी मानें तो कोई बात नहीं। इतना तो झख मार कर आप को मानना ही होगा कि यह तथ्य है कि–

बधावनो बजायो सुनि भयो परिताप पाप जननी जनक को।

जी ! 'बधावा' का शब्द कान में पड़ा तो माता को तो 'परिताप' हुआ और पिता को हुआ 'पाप'। क्यों ? क्यों का समाधान सरल नहीं। इसकी ऊहा में क्या कुछ नहीं कह दिया गया है, किंतु जो अब तक नहीं कहा गया है वही कदाचित् सत्य है।

बधावा की व्यथा

हमारी अल्प मति में तो यह आता है कि हो न हो यह बधावा किसी अनिष्ट स्थान पर बजा है जिसका दुष्परिणाम उक्त 'मंगन-कुल' को भोगना पड़ा है। पिता को 'पाप' का दंड मिला है और माता को उसका परिताप सहना पड़ा है। रहा बच्चा, सो उसका कुछ न पूछिए। वह तो कहीं से कहीं पहुँच गया न ? सचेत होकर उसी का तो कहना है—

मातु पिता जग जाय तज्यो।

तो फिर इस 'जग' की व्यंजना क्या ? फिर भी तो वह कहता है इस 'जग' को अलग कर—

जननी जनक तज्यो जनमि।

किंतु क्या 'जनमि' का प्रयोग वह व्यर्थ ही कर रहा है ? क्यों वहाँ 'जग जाय' और यहाँ 'जननी' का प्रयोग इस विषाद से कर रहा है ? कारण कुछ तो होगा ही। कहते हैं—

तनु जन्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु पिता हूँ।

अथवा सं० १६६६ की प्रति के अनुसार—

तनुज तऊ कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु पिता हूँ।

पाठ की पकड़ से भी मर्म नहीं खुलता। डा० माताप्रसाद गुप्त जी स्यात् इस पाठ के नाते श्री रामनरेश त्रिपाठी के इस अर्थ से सहमत नहीं। त्रिपाठी जी का पक्ष है—

कुटिल कीट

सोरों और उसके आस पास 'कुटीला' नाम का एक कीड़ा होता है, जो 'केकड़ा' नाम से विख्यात है। उसकी यह विशेषता कही जाती है कि वह अपनी माता का पेट फाड़कर बाहर निकलता है। तुलसीदास के उत्पन्न होते ही उनकी माता का देहान्त हो गया था। इसी से उन्होंने अपनी तुलना 'कुटिल कीट' अर्थात् 'कुटीला' से की है। 'कुटिल कीट' का अर्थ विनय-पत्रिका' के टीकाकारों ने सर्पिणी आदि किया है; पर सर्पिणी आदि कोई जीव अपने बच्चे को जन्मते ही छोड़ नहीं देते। वे प्रकृतिवश उनकी तब तक संभाल करते हुए पाए जाते हैं, जब तक बच्चे स्वयं समर्थ नहीं हो जाते।

माता की मृत्यु के बाद ही, संभवतः थोड़े ही दिनों में, उनके पिता का भी देहान्त हो गया था। ऊपर के उदाहरण में 'पिता' के साथ लगा हुआ 'हूँ' इसी अर्थ का द्योतक हो सकता है।

[तुलसीदास और उनकी कविता, पहला भाग पृष्ठ ६]

सोरों का 'कुटीला' ही यदि तुलसी को इष्ट था तो 'कीट' का व्यवहार ही व्यर्थ है। अतएव उसका आग्रह छोड़ इसका अर्थ लगाना चाहिए। 'विच्छू' के विषय में भी कहावत है—

केरा बिच्छी बाँस। अपने जनमले नास।

तो फिर 'कुटिल कीट' को छोड़कर इस अर्थ के हेतु सोरों के 'कुटीला' को क्यों पकड़ा जाय? और क्यों न 'विच्छू' में ही इसको चरितार्थ समझा जाय? परंतु फिर भी इसमें एक दोष बना ही रह जाता है। इसमें तो 'जननी' का दोष नहीं। उसका नाश तो संतान के जीवन का फल है। फिर उसकी यह भर्त्सना कैसी?

उधर एक दूसरा अर्थ भी। इसकी टिप्पणी में श्री वियोगी हरि जी लिखते हैं-

(१) 'तनु-जन्यो'-श्री बैजनाथ जी ने 'त्वचा तजत' और भट्ट जी ने 'तनु तजेउ' पाठ मानकर यह अर्थ किया कि जैसे साँप अपनी केंचुल को छोड़ देता है। बैजनाथ जी ने तो 'त्वचा' लिखकर स्पष्ट ही कर दिया है। भट्ट जी 'तनु' का अर्थ 'काँचली' कर रहे हैं। यह अर्थ भी संभव हो सकता है। काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा की प्रति के अनुसार हमने 'तनुजन्यो' पाठ शुद्ध माना है। साँप अपने बच्चों को जनते ही छोड़ देता है। प्रवाद तो यह है कि सर्पिणी उन्हें जन्मते ही खा जाती है; जो भागकर निकल जाते हैं, वे ही बचते हैं।

(२) 'ज्यों तज्यो मातु पिता हूँ'—माता-पिता मुझे अभागा जान कर छोड़ बैठे। बचपन में ही, मेरे दुर्भाग्य से मुझे छोड़कर परलोकवासी हो गए।

[विनय-पत्रिका (सटीक), पृष्ठ ४२१]

किंतु सच पूछिए तो इससे संतोष नहीं होता। इसमें माता-पिता का दोष क्या? यह तो उनकी शुद्ध विवशता है न? हमारी

तुलसी की वेदना

दृष्टि में तुलसी को माता-पिता के इस कार्य से क्षोभ है। कारण कुछ तो होगा ही। तभी तो आत्मतृप्ति के लिए इसी के आगे कहते भी हैं—

काहे को रोस दोस काहि धों मेरे ही अभाग मो सों सकुचत छुइ छाहूँ ।

यह तो सामान्य प्राणी की बात ठहरी । तुलसी ने किस वेदना से 'माता-पिता' का नाम लेने से पहले ही खुल कर कह दिया था—

हैं दयालु दुनि दस दिसा दुख दोष दलन छम कियो न संभाषन काहूँ ।

बात समझने की है । तुलसी अपनी भाषा में कुछ कहा चाहते हैं । इतिहास इस बात की साखी भर रहा है कि उसके पन्नों में कहीं तुलसी का नाम नहीं । क्यों ? क्यों मुगलकालीन इतिहास इनको नहीं जानता ? यहाँ तक कि इनके 'बंदीगृह' में बंद होने का भी कहीं उल्लेख नहीं ।

साक्षरों का समाधान कुछ भी हो, अपने राम को तो यह सूझता है कि वस्तुतः इसके मूल में है तुलसी से मुगल का जन्म-जात विरोध । जहाँ तक बुद्धि काम करती है हम को तो यही दिखाई देता है कि वास्तव में प्रकृत पद में स्थिति आप ही बोल उठी है । सुनने को अतीत का कान चाहिए । उसके अभाव में ही हम इसके मर्म से दूर रहे हैं । हमारी दृष्टि में तुलसी के

तनु जन्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो

का अर्थ है—

अपनी संतान को इस प्रकार छोड़ दिया जिस प्रकार सर्प को ।

भाव यह कि जब तुलसी का जन्म हुआ तब रामभक्तों में आनंद की लहर दौड़ उठी और 'बधावनो बजायो' की धूम हुई ।

स्थिति का बोध

धूम-धाम के कारण माता-पिता राजदंड से दहल उठे और समझ गए कि आगे क्या होनेवाला है । फलतः उन्होंने बच्चे को अपने से अलग कर दिया और तुलसी 'जन्मस्थान' से दूर जा पड़ा । माता-पिता तलवार के घाट उतर गए अथवा कालवश

चल बसे इससे यहाँ कोई प्रयोजन नहीं। स्थापना हमारी यह है कि राम की जन्मभूमि' ही वास्तव में तुलसी की भी जन्मभूमि है। और जो यह 'बधावनो बजायो' कांड है वह भी वास्तव में 'बाबरी-मसजिद' के सामने बाजा बजाने का कांड है। तुलसी सयाने हो कर इसी से तो एक सच्चे वैष्णव की भाँति सोचते हैं—

काहे को रोस ?

सच ही तो है। इसमें किसी पर 'रोष' क्यों किया जाय ? सब कुछ तो अपना कर्मफल ही है ? 'दोष' भी किसी को क्यों दिया जाय ? अपने किए का फल आप ही भोगना चाहिए और जो कुछ संताप हो उससे विचलित न हो उसे अपना भाग्य समझ भोगना और उसी में संतुष्ट रहना चाहिए। फिर तो राम-कृपा से सब कुछ सध जाता है। संत-समागम से सब संभव हो जाता है। फिर किसी राजलोक की चिन्ता नहीं रह जाती। रामकृपा से दुर्लभ क्या ?

जी हाँ, यह इसी राजकोप का प्रसाद था कि तुलसी को पहले कहीं शरण न मिली। यहाँ तक कि कुछ सचेत हुए ही थे कि

राजकोप

आश्रयदाता भी सभी प्रकार से घाटा देखने लगे और होते-होते एक दिन ऐसा भी आ गया कि तुलसी संत-कृपा से सब कुछ छोड़ राम के हो रहे। फिर तो—

मारुति मन रुचि भरत की लखि लषन कही है।
कलिकालहुँ नाथ ! नाम सों प्रतीति प्रीति एक किंकर की निबही है॥१॥
सकल सभा सुनि लै उठी जानी रीति रही है।
कृपा गरीब निवाज की, देखत गरीब को साहब बाँह गही है ॥२॥

बिहँसि राम कह्यो 'सत्य है सुधि मैं हूँ लही है।'
मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ हाथ सही है
॥३॥२७६॥
[विनयपत्रिका]

जी। 'रघुनाथ' की 'सही' तुलसी को यों ही नहीं मिल गई। नहीं, इसके निमित्त तो उनको बहुत कुछ करना पड़ा। यहाँ तक कि कभी अपने नाथ से कुछ खीझ कर कहना पड़ा—

मेरे जान जब तैं हौं जीव ह्वै जनम्यो जग,
तब तें बेसाह्यो दाम लोह कोह काम को।
मन, तिनहीं की सेवा, तिनहीं सों भाव नीको,
बचन बनाइ कहौं, 'हौं गुलाम राम को।'
नाथ हू न अपनायो, लोक झूठी ह्वै परी, पै
प्रभु हू तें प्रबल प्रताप प्रभु नाम को।
आपनो भलाई भलो कीजै तौ भलाई, न तौ
तुलसी को खुलैगो खजानो खोटे दाम को ॥७०॥
[कवितावली, उत्तर०]

भक्ति का बल

किंतु तुलसी 'प्रभु' की अपेक्षा 'प्रभु नाम' को अधिक महत्त्व देते हैं और उसी के भरोसे 'कराल कलिकाल भूमिपाल' को चुनौती दे ललकार कर कह जाते हैं—

सुनिए कराल कलिकाल भूमिपाल तुम,
जाहि घालो चाहिए कहौधौं राखै ताहि को।
हौं तौ दीन दूबरो, बिगारो ढारो रावरो न,
मैं हूँ तैं हू ताहि को सकल जग जाहि को।
काम कोह लाइ कै देखाइयत आँखि मोहिं,
एते मान अकस कीबे को आपु आहि को।

साहिब सुजान जिन स्वान हू को पच्छ कियो
रामबोला नाम, हौं गुलाम राम-साहि को ॥१००॥
[कवितावली, उत्तर०]

'राम-साहि को गुलाम' 'रामबोला' कभी किसी 'कराल कलि-काल भूमिपाल' का सेवक हो सकता है ? न हो, परंतु फिर इस "अकस' से उसे चिढ़ क्यों ? इसका सामना तो उसे करना ही होगा और इसका फल भी उसे भोगना ही ! तो इसकी उसे चिंता नहीं। हाँ, दुःख तो उसे इस बात का है—

बचन विकार, करतबऊ खुआर, मन
विगत-विचार, कलि मल को निधानु है।
राम को कहाइ, नाम बेंचि बेंचि खाइ, सेवा
संगति न जाइ, पाछिले को उपखानु है।
तेहू तुलसी को लोग भलो भलो कहैं, ताको
दूसरो न हेतु, एक नीके कै निदानु है।
लोकरीति बिदित विलोकियत जहाँ तहाँ
स्वामी को सनेह स्वान हू को सनमानु है ॥६४॥
[कविता०, उत्तर०]

बीती बात

'पाछिले को उपखानु है' का निर्देश क्या है ? 'उपखान' का अर्थ 'कहावत' कर इसका अर्थ लगाना ठीक नहीं जँचता। हमारी समझ में इसका संकेत तुलसी-जीवन की 'पिछली कथा' से है जब जन्मजात शिशु के रूप में उन्हें राम के स्थान से मोहवश अलग कर दिया गया। जो हो, तुलसी का ही यह भी वचन है—

जीजै न ठाउँ, न आपन गाउँ, सुरालय हू को न संबल मेरे।
नाम रटौं, जमबास क्यों जाउँ, को आइ सकै जम-किंकर नेरे।

तुम्हरो सब भाँति, तुम्हारिय सौं, तुम्ह ही बलि हौं मोकों ठाहरु हेरे।
बैरष बाँह बसाइए पै, तुलसी-घरु व्याध अजामिल खेरे ॥६२॥
[कविता०, उत्तर०]

भाव यह कि तुलसी का अब अपना घरबार नहीं। राम की छाया में रहने को कहीं भी रह सकते हैं, किंतु अंत में रहना चाहते हैं राम के धाम में ही। कारण यह कि 'व्याध' और 'अजामिल' का 'खेड़ा' वहीं है। 'बैरष बाँह बसाइए पै' में 'पै' पर ध्यान दीजिए और फिर 'जीजै न ठाउँ, न आपन गाउँ' की वेदना को समझिए। अरे ? तुलसी का अपना गाँव कहाँ ?

तुलसीदास के 'घर' के संबंध में अभी अभी जो कुछ कहा गया है उसके महत्त्व के विषय में बोलना व्यर्थ है। प्रश्न आस्था और विश्वास का नहीं, शोध और अनुसंधान का है। अतः विवेक की खरी कसौटी पर उसे कसा ही जायगा। हम यहाँ जो कुछ कहना चाहते हैं वह यह है कि इससे स्यात् तुलसीदास की जन्म-तिथि का बोध भी ठिकाने से हो जाता है। हम अपनी ओर से क्यों कहें ? कहना डा० माताप्रसाद गुप्त जी का ही है। सुनिए—

जन्म-तिथि

५. श्री शिवसिंह सेंगर ने लिखा है कि—

यह महाराज सं० १५८३ के लगभग उत्पन्न हुए थे।
['सरोज' पृष्ठ ४१७]

बहुधा यह समझा जाता है कि हमारे कवि के संबंध में जो कुछ सेंगर जी ने लिखा है वह उस 'गोसांई-चरित्र' के आधार पर लिखा है जिसका उल्लेख उन्होंने स्वतः हमारे कवि की सूचना में किया है। पर उपर्युक्त कथन में 'लगभग' शब्द स्पष्ट ही इस कथन का निराकरण कर देता है। यदि उन्होंने उस चरित के आधार पर यह तिथि दी होती,

तो इस उल्लेख में 'लगभग' की आवश्यकता न पड़ती। जिस जीवन-चरित का उन्होंने इस प्रसंग में उल्लेख किया है, उसे उन्होंने कदाचित् देखा भी था, क्योंकि उससे उन्होंने एक उद्धरण अन्यत्र दिया है। इसलिए यह स्पष्ट है कि सेंगर महोदय ने यह तिथि या तो किसी जनश्रुति के आधार पर दी है, या किसी अनुमान के आधार पर। फिर भी यह तिथि किसी प्रकार असंभव नहीं कही जा सकती, क्योंकि इसके संबंध में उस प्रकार की कोई कठिनाइयाँ नहीं हैं जिस प्रकार की उपर्युक्त अन्य दो तिथियों—सं० १५५४ तथा सं० १६०० के संबंध में हैं।

६. श्री ग्रियर्सन, संभवतः जनश्रुति की अपेक्षा किसी दृढ़तर प्रमाण पर, लिखते हैं :

> सब से अधिक विश्वस्त विवरणों से यह बात प्रकट होती है कि कवि का जन्म सं० १५८९ में हुआ था।

७. इस तिथि के लिए एक महत्त्वपूर्ण समर्थन हाथरस वाले तुलसी साहिब के आत्मोल्लेख में मिलता है जब वे कहते हैं कि अपने पूर्व जन्म में—जब उन्होंने 'रामचरितमानस' की रचना की थी—उनका जन्म सं० १५८९, भादौं सुदी ११, मंगलवार को हुआ था। यह तिथि गणना से शुद्ध उतरती है, और ऊपर जैसा हम इस 'आत्मचरित' के संबंध में देख चुके हैं, यह अधिकांश में संभवतः किसी प्राचीन स्वतंत्र और निरपेक्ष परंपरा के साक्ष्य के आधार पर लिखा गया है, फिर इस तिथि को मानने में कोई असंभावना भी नहीं दिखाई पड़ती, इसलिए इस तिथि को हम कवि की जन्म-तिथि के रूप में ग्रहण कर सकते हैं।

[तुलसीदास, तृ० सं०, पृष्ठ १३६-४०]

संवत् १५८३ का महत्त्व

तात्पर्य यह कि कोई चाहे तो सं० १५८३ को भी तुलसीदास की जन्म-तिथि मान सकता है अन्यथा डा० माताप्रसाद गुप्त को मान्य है सं० १५८९ ही।

सो सं० १५८३ के बारे में भूलना न होगा कि यही वह संवत् है जब बाबर का सिक्का इस देश में चला और फलतः उसकी नीति हुई—

अफगान काल में सुल्तान की शक्ति ईश्वर की दी हुई शक्ति नहीं, केवल एक मनुष्य की शक्ति मानी जाती थी। साम्राज्य के सरदार सुल्तान के कमजोर पड़ते ही मौका पाकर स्वतंत्र हो जाते थे। बाबर ने सुल्तान के स्थान पर बादशाह की उपाधि धारण की जिसके पीछे सैनिक तथा राजकीय शक्ति के साथ धर्म द्वारा स्वीकृत ईश्वरीय शक्ति का भाव भी वर्तमान है। धीरे-धीरे इस भाव ने लोगों के दिलों में घर कर लिया जो बादशाह का झरोखा दर्शन करने लगे और उसे ईश्वर का प्रतिनिधि मान कर उसके प्रति भक्ति-भाव प्रदर्शित करने लगे।

[भारत का इतिहास, भाग ३, पृ० २३]

मंदिर से मसजिद

जो हो, हिन्दूपति महाराणा साँगा की हार को बाबर ने अल्लाह की देन समझा और राजपूत-शिरों का स्तूप बना अपनी जीत का स्मारक खड़ा किया। सं० १५८४ के चैत्र मास में यह विचित्र लीला जिस जाति को देखने को मिली उसी को कुछ समझाने के हेतु तो तुलसी का अवतार हुआ। 'खनवा' की रणभूमि में बाबर 'गाजी' बना तो उसका परिणाम शीघ्र ही अयोध्या में प्रकट हुआ। अपनी ओर से कहा क्या जाय? उसी का इतिहास साक्षी है कि 'जन्म-स्थान' की 'बाबरी मसजिद' पर फारसी में लिखा है—

(१) बफ़रमूद-ऐ-शाह बाबर कि अदलश ;
बनाईस्त ता काखे, गरदूँ मुलाक़ी।

(२) बिना कर्दें ईं महबते क़ुदसियाँ;
अमीरे सआदत निशाँ मीर बाक़ी।

(३) बुअद ख़ैर बाक़ी चूँ साले बिनायश;
अयाँ शुद कि गुफ़्तम बुअद ख़ैर बाक़ी ।

(अनुवाद)

(१) बाबर बादशाह की आज्ञा से, जिसके न्याय की ध्वजा आकाश तक पहुँची है।

(२) नेकदिल मीर बाक़ी ने फ़रिश्तों के उतरने के लिये यह स्थान बनवाया है।

(३) उसकी कृपा सदा बनी रहे। बुअद ख़ैर बाक़ी—इसी के टुकड़ों से इसी इमारत के बनाने का वर्ष ७३५ हिजरी भी निकल आता है।

यह तो रहा 'मसजिद के भीतरवाला लेख' और यह है 'मसजिद के फाटक पर का लेख'—

(१) बनामे आँकि दाना हस्त अकबर;
कि ख़ालिक जुमला आलम ला-मकानी ।

(२) दरूदे मुस्तफ़ा बादज़ सतायश;
कि सरवर अंबियाए दो जहानी ।

(३) फ़िसाना दर जहाँ बाबर क़लन्दर;
कि शुद दर दौरे गेती कामरानी ।

(अनुवाद)

(१) उस परमात्मा के नाम से जो महान् और बुद्धिमान है, जो संपूर्ण जगत का सृष्टिकर्त्ता तथा स्वयं निवास-रहित है।

(२) उसकी स्तुति के बाद मुस्तफ़ा की तारीफ़ है। जो दोनों जहान तथा पैगंबरों के सरदार हैं।

(३) संसार में बाबर और क़लन्दर की कथा प्रसिद्ध है जिससे उसे संसार चक्र में सफलता प्राप्त हुई है।

साथ ही यहीं इतना और भी पढ़ लें कि—

यहाँ हम इतना और लिखना चाहते हैं कि बहुत थोड़े ही तोड़-फोड़ से मंदिर की मसजिद बन गई है। पुराने रावटी के खंभे अब मसजिद की शोभा बढ़ा रहे हैं। मूसा आशिक़ान की क़ब्र कटरे की सड़क पर वसिष्ठ कुंड के पास अब भी बताई जाती है परंतु क़ब्र का निशान नहीं है और वह जगह बहुत ही गंदी है। एक जगह जन्म-स्थान के दो खंभे गड़े हैं। कहा जाता है कि जब मूसा आशिक़ान मरने लगे तो उन्होंने अपने शिष्यों से कहा कि जन्म-स्थान का मंदिर हमारे ही कहने से तोड़ा गया है। इससे इसके दो खंभे बिछा कर हमारी लाश रक्खी जाय और दो हमारे सिरहाने गाड़ दिए जायँ।

[अयोध्या का इतिहास, पृष्ठ १५२-४]

मसीत को सोइबो

अर्थात् सं० १५८५ में 'जन्म-स्थान' पर बाबरी शासन हो गया और मंदिर मसजिद बना। फिर तो पता नहीं कि किस उमंग में आकर तुलसीदास ने स्वयं कभी लिख दिया कि—

धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगार न सोऊ।
तुलसी सरनाम गुलाम हैं रामको, जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ।
माँगि कै खैबो मसीत को सोइबो, लैबे को एक न दैबो को दोऊ ॥१०६॥

[कविता०, उत्तर०]

'माँगि कै खैबो' में तो कोई उलझन नहीं। तुलसी ने अपने 'माँगने' की चर्चा अनेक बार की है। हाँ, अड़चन डालता है यह—

'मसीत को सोइबो'।

सो मुहावरा बन गया तो कोई बात नहीं अन्यथा ऐसी दशा में

इसका अर्थ बहुत कुछ समझा जा सकता है। निवेदन है कि इसको समझने का प्रयत्न किया जाय और देखा जाय कि स्वयं बाबा जी तो अवध-वास में ऐसा नहीं करते थे। संभव है किसी दिन इसका भी उद्घाटन हो जाय। अभी जान रखने की बात यह है कि–

रामचंद्र जी के पुराने मंदिर में थोड़ा ही हेर फेर हुआ है। मसजिद में जो मध्य का गुम्बज है वह प्राचीन मंदिर ही का मालूम होता है और बहुत से स्तम्भ भी अभी ज्यों के त्यों खड़े हैं। ये सुदृढ़ काले कसौटी के पत्थर के बने हुए हैं। खम्भे सात से आठ फुट तक ऊँचे हैं, और नीचे चौकोर हैं और मध्य में अठकोने।

[अयोध्या का इतिहास, पृष्ठ ४६-५०]

तुलसी का जन्म-देश

अस्तु। हमारा निवेदन है कि तुलसी के 'बधावनो बजायो सुनि भयो परिताप पाप' का संबंध इस 'मसजिद' से है। तुलसी के 'जननी-जनक' का निवास इसी के पास कहीं था तो इसमें संदेह क्या ? स्मरण रहे तुलसी का एक पद है—

गरैगी जीह जो कहौं और को हौं।

जानकी-जीवन ! जनम जनम जग ज्यायो तिहारेहि कौर को हौं॥
तीन लोक तिहुँ काल न देखत सुहृद रावरे जोर को हौं।
तुम्ह सों कपट करि कलप कलप कृमि ह्वै हौं नरक घोर को हौं॥
कहा भयो जो मन मिलि कलिकालहिं कियो भौंतुवा भौंर को हौं।
तुलसिदास सीतल नित यहि बल बड़े ठेकाने ठौर को हौं॥२२९॥

[विनयपत्रिका]

अतएव हमारा पक्ष है कि तुलसी का ठौरठिकाना 'रामकोट' किंवा राम का जन्म-स्थान ही है। उनके माता-पिता दरिद्र अथवा 'मंगन' थे, इसका प्रमाण पाना कठिन है।

तुलसी का कुल

'कुल मंगन' का अर्थ 'ब्राह्मण कुल' ही है न कि 'भिखारी कुल'। 'भिखारी' का 'कुल' नहीं हुआ करता। उसका 'भेष' और 'घर' हुआ करता है। 'बाह्मण' का महत्त्व तो देखिए। कवि स्वयं कहता है—

भागीरथी जलपान करौं अरु नाम द्वै राम के लेत नितै हौं।
मोको न लेनो न देनो कछू, कलि! भूलि न रावरी ओर चितै हौं।
जानिकै जोर करौ परिनाम, तुम्है पछितैहौ पै मैं न भितैहौं।
ब्राह्मन ज्यों उगिल्यो उरगारि हौं त्यों ही तिहारे हिये न हितैहौं॥१०२॥
[कविता०, उत्तर०]

तो भी प्रतिपाद्य विषय हमारा और ही है। हम अध्ययन के आधार पर इतना निवेदन करना चाहते हैं कि हमारी दृष्टि में तुलसी को तजने में न तो अभुक्तमूल का हाथ है और न किसी दैव वा दरिद्रता का। उसमें तो स्पष्ट ही हाथ है 'कराल कलिकाल भूमिपाल' अथवा 'राजलोक' का। छिपाने की बात नहीं। इसी से खुली घोषणा है। 'महामुनि' तुलसी की—

द्विजद्रोही

द्विजद्रोहिहि न सुनाइअ कबहूँ। सुरपति सरिस होइ नृप जबहूँ।
राम कथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह के सतसंगति अति प्यारी।
गुर पद प्रीति नीति रत जेई। द्विज सेवक अधिकारी तेई।
[रामचरितमानस, अंत]

कारण की मीमांसा में आप पड़ें। तुलसी का निश्चय सामने है, किंतु उनका जीवन आँख से ओझल। द्विजद्रोही शासन से

तुलसी का 'अकस' कैसा ? क्यों का समाधान स्यात् यहीं हो जाय। परिस्थिति पुकार कर कहती है—

अफ़गानों का विद्रोह—सबसे पहले हुमायूँ ने कालिंजर के हिंदू राजा पर आक्रमण किया। कालिंजर का राजा अफ़गानों का मित्र था। इसी बीच में पूरब में अफगानों का विद्रोह आरंभ हो गया। हुमायूँ ने कालिंजर का घेरा उठा लिया और राजा बहुत सा रुपया भेंटस्वरूप लेकर अफगानों का दमन करने के लिए पूरब की ओर बढ़ा। सुलतान महमूद लोदी अफगानों का नेतृत्व कर रहा था। दौरा की लड़ाई में उनकी हार हुई, और महमूद बंगाल की ओर भाग गया। इसके उपरान्त हुमायूँ ने चुनार के किले का घेरा डाला। चुनार इस समय शेरखाँ के हाथ में था। शेरखाँ ने दिखाने को हुमायूँ की अधीनता स्वीकार कर ली। हुमायूँ उसकी बातों में आ गया और बिना चुनार को पूर्ण विजय किए हुए आगरे की ओर लौटा। शीघ्र ही उसे गुजरात के सुलतान बहादुरशाह की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के लिए पश्चिम की ओर प्रस्थान करना पड़ा।

हुमायूँ और बहादुरशाह—बहादुरशाह ने हुमायूँ के शत्रु अफगान सरदारों को शरण दी थी। गुजरात के पड़ोसी राज्यों की शक्ति क्षीण हो चुकी थी। मेवाड़ में राणा साँगा के बाद कोई प्रभावशाली व्यक्ति नहीं हुआ। बहादुरशाह ने मालवा को अपने राज्य में मिला लिया और चित्तौड़ पर आक्रमण किया। विक्रमाजीत इस समय मेवाड़ का राणा था। वह गुजरात-सुलतान का मुकाबला न कर सका। १५३५ में जब हुमायूँ मालवा पहुँचा, बहादुरशाह चित्तौड़ का घेरा डाले हुए था। चित्तौड़ की रानी कर्णवती ने उसके विरुद्ध हुमायूँ की सहायता माँगी, किंतु हुमायूँ ने एक मुसलमान के खिलाफ हिंदू राज्य की सहायता करना उचित न समझा। बहादुरशाह ने चितौड़ को जीत

उसकी फौजों में मुठभेड़ हुई। याद रखने की बात है कि मुसीबत के इस समय में भी हुमायूँ के भाइयों ने उसका साथ नहीं दिया। हुमायूँ हारा और भागकर आगरा आया। इस विजय ने शेरखाँ को कन्नौज से लेकर आसाम तथा चटगाँव की पहाड़ियों तक के समस्त प्रदेश का स्वामी बना दिया।

दूसरे वर्ष हुमायूँ ने अपनी संपूर्ण शक्ति लगाकर शेरखाँ को रोकने का प्रयत्न किया किंतु कन्नौज के युद्ध में (१५४० ई०) उसकी सेना तहस-नहस हो गई। वह स्वयं बड़ी कठिनाई से अपनी जान बचा कर भाग सका। इस विजय ने शेरखाँ को उत्तरी भारत का सम्राट बना दिया और बाबर के वंश की सत्ता भारत से कुछ समय के लिए लुप्त हो गई।

[वही पृष्ठ, १३३-४]

'बाबर के वंश की सत्ता' के लोप का जो प्रभाव 'अवध' पर पड़ा उसका गुणगान तो मुसलिम कवि मलिक मुहम्मद जायसी भी अपनी 'पद्मावत' में कर चुके हैं।

उल्लास का उदय

उसके विषय में और कहा क्या जाय? हाँ, यदि कहीं से इसका भी कुछ पता हो जाता कि उस समय 'जन्मस्थान' के अभिमानियों के हृदय में क्या आह्लाद उमड़ा था तो कदाचित् हमारा मार्ग अधिक प्रशस्त हो जाता। तो भी इसके अभाव में भी इतना तो सरलता से ही कहा जा सकता कि उसके उल्लास का ठिकाना नहीं रहा होगा। कारण यह कि 'शेरशाह' नया नहीं, अपना पुराना परिचित शेरखां ही तो था जो कभी अपनी विमाता के कोप के कारण जौनपुर में आ पड़ा था और वहीं शिक्षित हो 'सासाराम' का जागीरदार बना था। उसकी खुली आँख और उदार अनुभव ने तो फिर ऐसा जौहर दिखाया कि उसके शासन के पाँच वर्ष मुसलिम शासन के ५०० वर्ष से कहीं अधिक संतोषप्रद सिद्ध हुए। 'महमूद' से लेकर

'बाबर' तक जो बर्बरता गोचर हुई शेरशाह के शासन में उसका नाम नहीं रहा। शासित को सचमुच शासक मिला और प्रजा ने शेरशाह में अपने राजा का साक्षात्कार किया। इतिहास कहता है—

शेरशाह एक योग्य सेनानायक तथा साम्राज्य-निर्माता ही न था, वह एक कुशल शासक भी था। पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि दिल्ली सुलतानों ने केवल सैनिक बल पर राज्य किया। सड़ी हुई हिन्दू शासन-व्यवस्था पर उन्होंने बलपूर्वक अपना फौजी शासन थोप दिया। उन्होंने अपने तथा अपने वंश के हितों का ही ध्यान रखा, प्रजा के हितों की उन्होंने बिलकुल परवा नहीं की। शेरशाह पहला मुसलमान शासक था जिसने प्रजा की भलाई को अपने शासन की आधारशिला बनाया और एक आधुनिक ढंग की सुव्यवस्थित शासन-व्यवस्था की नींव डाली जिसको उसके प्रतिद्वन्द्वी मुगलों ने अपनाया और अधिकांश भारत को एक दृढ़ शासनसूत्र में बाँध कर देश की आर्थिक, तथा सांस्कृतिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त किया। मि० कीनी लिखते हैं—

किसी भी सरकार ने, ब्रिटिश सरकार ने भी, इतनी बुद्धिमत्ता का परिचय नहीं दिया जितना इस पठान ने। इसलिये यदि हम यह कहें कि भारतीय इतिहास का आधुनिक युग शेरशाह के शासन-काल से आरंभ होता है तो इसमें अतिशयोक्ति न होगी।'

[मध्यकालीन भारत का इतिहास, पृ० १३६-७]

शेरशाह तथा उसके वंश के साथ हिंदू-हृदय का इतना मेल हो गया कि 'सूर' वंश का अंत होते होते भारत का एक बनिया 'विक्रमादित्य' बनकर दिल्ली के गगन में चमका। उसका अंत जिस मुगली निर्ममता से हुआ उसका उल्लेख आवश्यक नहीं। समझने के लिए इतना पर्याप्त है कि—

हेमू

चगताई मोवर्रिख बनिये की जात को गरीब समझकर जो चाहे सो कहें मगर इसके कवाअद बन्दोबस्त दुरुस्त और अहकाम ऐसे चुस्त हो गए थे कि पतली दाल ने गोश्त को दबा लिया। अफगानों में जो बाहम कशाकशी और बेइन्तजामी रही उसमें वह एक जंगी और बाइक़-बाल राजा बन गया। अदली की तरफ से लश्कर जर्रार लिए फिरता था, कहीं धावा मारता था, कहीं मुहासिरा करता था, और किला बन्द करके वहीं डेरे डाल देता था। अलबत्ता यह कबाहत जरूर हुई कि बिगड़े दिल अफगान उसके अहकाम से तंग आकर न फकत उससे बल्कि अदली से भी बेजार हो गए।

[दरबार अकबरी, पृष्ठ ८४३]

'हेमचंद्र विक्रमादित्य' वा मुगली बानी में 'हेमू बक्काल' के अस्त का प्रभाव तुलसी के मानस पर क्या पड़ा, इसे कौन कहे?

नरहरि की ग्लानि

किंतु 'सूर' वंश के पराभव और 'चगताई' वंश के उदय का प्रभाव 'नरहरि' पर यह पड़ा कि 'मुगल' का निमंत्रण भी उनके संताप का कारण हुआ। कवि की ग्लानि ठहरी। पश्चात्ताप की वेदना में कहता है—

सेरन साहि सलैम पुहुमि एक छत्र राजु किअ।
तिन मोहि कह करि कृपा मानु धनु खिति खिताबु दिअ॥
तिन्ह के मरत नहि मुएउ लाज गहि बनन सिधाएउ।
तिन्हकि सुतन परि बिपति तहाँ केहु काम न आएउ॥
एहि लाज गहेउ जगदीस दरु नरहरि चल तन चित्त सुष।
फिरि फेरि बोलावहि साह मोहि सो आनि दिखावउ कौन मुष॥१०॥

[अकबरी दरबार के हिंदी कवि, पृष्ठ ३२६]

यह जान रखने की बात है कि नरहरि हुमायूँ के दरबार के कवि थे और फलतः इनकी सहानुभूति भी पहले उधर ही थी। किंतु ,मुगल' का पासा ऐसा पलटा कि उन्हें शेरशाह के दरबार में आना पड़ा और जब 'सूर' वंश का सभी प्रकार पराभव हो गया तब फिर 'चगताई' का होकर उन्हें रहना पड़ा। इधर प्रायः इसी काल में तुलसी का क्या हुआ, इसको ठीक से कहने की क्षमता आज किसी में नहीं। तो भी उपलब्ध सामग्री में मूँड मारने से जो कुछ सूझ पड़ा उसका निष्कर्ष यह निकला कि तुलसी का आविर्भाव हुमायूँ के शासन में सं० १५८९ में अयोध्या में हुआ। उस समय 'राम-मंदिर' 'बाबरी-मसजिद' बन चुका था और वह 'इसलाम की शान' का चिन्ह और बाबरी प्रभुता का द्योतक समझा जाता था। 'राम' के लगाव के कारण तुलसी की जन्म-दशा चिन्ता की देवी बन गई और बहुत कुछ कृष्ण की भाँति ही उनकी रक्षा हो सकी। जब तक मुगल-शासन अवध में रहा तुलसी की दशा अच्छी न रही। जैसे-तैसे जीवन बीतता रहा। जब शेरशाह का सिक्का जमा तब तुलसी को भी कुछ शरण मिली। कारण यह कि-

तुलसी का अविर्भाव

एक कट्टर सुन्नी होते हुए भी वह दूसरे धर्मों के माननेवालों के साथ अच्छा बर्ताव करता था। उसने जज़िया तो नहीं उठाया किंतु हिंदुओं के साथ न्याय और सहिष्णुता का पालन करता था। अपनी हिंदू प्रजा में विद्या के प्रचार के लिए वह उन्हें वक्फ़ देता था। उसके समय में हिंदू शासन-प्रबंध में काफी भाग लेते थे। इन कारणों से सभी धर्मों की प्रजा उसे चाहती थी।

[भारत का इतिहास, भाग ३, पृष्ठ ४२-३]

डा० ईश्वरीप्रसाद के इस कथन से इतना तो विदित ही है कि शेरशाह हिंदू के प्रति इतना उदार था कि वह अपना धर्म-धंधा ठिकाने से कर सके। ऐसी स्थिति में अयोध्या में रामभक्तों का फिर से जमाव होना स्वाभाविक ही है। 'जन्म-स्थान' 'स्थान' के रूप में अपनी महिमा बनाए था। लोग दर्शनार्थ अब भी वहाँ जाते ही होंगे और 'मंदिर' के अभाव में 'स्थान' की पूजा कर लौट आते रहे होंगे, किंतु साथ ही किसी हनुमान-गढ़ी की महिमा पहले से कहीं और बढ़ गई होगी जिससे तुलसी का संबंध 'राम-किंकर' के रूप में जुट गया होगा और 'अनाथ' तुलसी 'सनाथ' बन कर 'रामबोला' के रूप में ख्यात हो गया होगा। 'तुलसी' के मूल नाम का पता नहीं पर इतना प्रकट है कि उनका एक नाम 'रामबोला' भी था। इसी से आप का अत्यंत स्फुट कथन भी है—

रामबोला

राम को गुलाम, नाम रामबोला राख्यो राम,
काम यहै नाम द्वै हौं कबहुँ कहत हौं।

[विनयपत्रिका, पद ७६]

तुलसी की जन्म-दशा को देखते हुए उनके 'नामकरण' की चिंता व्यर्थ है। हाँ, स्मरण रखने की बात है कि घोर संकट के समय तुलसी जो 'हनुमान' की शरण लेते हैं उसका रहस्य है उनसे इनका यह संबंध ही—

टूकनि को घरघर डोलत कंगाल बोलि,
बाल ज्यों कृपाल नतपाल पालि पोसो है
कीन्ही है सँभार सार अंजनीकुमार बीर,
आपनो बिसारिहैं न मेरे हूँ भरोसो है॥

एतनो परेखो सब भाँति समरथ आजु,
कपिनाथ साँची कहौं को त्रिलोक तोसो है ।
साँसति सहत दास कीजै पेखि परिहास,
चीरी को मरन खेल बालकनि को सो है ॥२९॥
[हनुमानबाहुक]

तुलसी की जीवन-यात्रा जिस 'साँसति' से भरी थी उसकी झलक अन्यत्र मिलेगी अभी जन्म-काल की झाँकी है यह ।

७—तुलसी की जीवन-यात्रा

तुलसी की जीवन-यात्रा किस प्रकार समाप्त हुई, इसको सभी लोग थोड़ा बहुत जानते हैं। स्वयं तुलसीदास भी अपनी रचनाओं में अपने राम से बहुत कुछ कहते रहते हैं, किंतु तो भी यह कहना अत्यंत कठिन है कि वास्तव में सब मिलाकर तुलसी का रूप क्या बनता है। लीजिए, तुलसी का एक पद है—

परिचय

राम को गुलाम नाम रामबोला राख्यो राम,
काम यहै नाम द्वै हौं कबहूँ कहत हौं।
रोटी लूगा नीके राखैं, आगे हू को बेद भाषैं
भलो ह्वै है तेरो, तातें आनँद लहत हौं॥
बाँधो हौं करम जड़ गरभ गूढ़ निगड़,
सुनत दुसह हौं तो साँसति सहत हौं।
आरत-अनाथ-नाथ कोसलपाल कृपाल
लीन्हों छीनि दीन देख्यो दुरित दहत हौं॥
बूझ्यो ज्यों हीं, कह्यो, 'मैं हूँ चेरो ह्वै हौं रावरो जू,
मेरो कोऊ कहूँ नाहिं, चरन गहत हौं'।
मींजो गुरु पीठ अपनाइ गहि बाँह बोलि,
सेवक-सुखद सदा बिरद बहत हौं॥
लोग कहैं पोचु, सो न सोचु न सँकोचु,
मेरे ब्याह न बरेखी, जाति पाँति न चहत हौं।
तुलसी अकाज काज राम ही के रीझे खीझे,
प्रीति की प्रतीति मन मुदित रहत हौं॥७६॥

[विनयपत्रिका]

श्री वियोगी हरि जी इसकी टीका में लिखते हैं—

भावार्थ—मैं श्री रामजी का गुलाम हूँ। गुरुरूप रामजी ने मेरा नाम 'रामबोला' रक्खा है। मेरी नौकरी क्या है? यही कि दिन भर में कभी-न-कभी दो एक बार राम-राम ऐसा स्मरण कर लेता हूँ। जो अच्छी तरह रक्खेंगे तो सिर्फ रोटी और वस्त्र लूंगा (और कुछ नहीं चाहिए), यह तो हुई इस लोक की बात; अब परलोक की रही सो वेद कह रहे हैं कि (राम-नाम के प्रभाव से) तेरा भला होगा, मुक्ति मिल जायगी। बस, इसी से मैं सदा प्रसन्न और निश्चिन्त रहता हूँ। भाव यह कि राम जी की गुलामी करने और उनका नाम लेने से मेरे दोनों लोक सुधर जायँगे, यह मुझे दृढ़ विश्वास है ॥ १ ॥ पहले जड़ कर्मों ने मुझे अभिलाष रूपी मजबूत बेड़ियों से कस लिया था। मुझे उस बंधन से ऐसा कष्ट हुआ कि मैं सह न सका। दुखियों-अनाथों के नाथ कृपालु कोशलेश श्री रामचंद्र जी ने मुझे कर्मबंधन से छुड़ा लिया, क्योंकि उन्होंने मुझ दीन को पापों से जलता हुआ पाया ॥ २ ॥ जब उन्होंने मुझसे पूछा कि तू कौन है, तब मैंने कहा, हे नाथ! मैं अनाथ हूँ, मेरा कोई कहीं नहीं है। मैं आपका गुलाम होना चाहता हूँ और आपके चरणों को इसी से पकड़ रहा हूँ। इस पर गुरुरूप राम जी ने मेरी पीठ ठोंकी, साहस बँधाया, और हाथ पकड़ कर मुझे अपना लिया। अपनी शरण में ले लिया। उस दिन से हरिभक्तों को सुख देनेवाला यह वैष्णव-बाना धारण किए रहता हूँ ॥ ३ ॥ मैं राम का गुलाम हो गया (वर्णाश्रम-धर्म छोड़ कर सब वैष्णवों के साथ खाने-पीने लगा) यह देखकर लोग मुझे नीच कहने लगे। पर मुझे इसकी तनिक भी चिंता न हुई और न संकोच ही हुआ, क्योंकि न तो मुझे किसी के साथ ब्याह या सगाई करनी थी और न मुझे जाति-पाँति के ही झगड़ों से कुछ काम है। तुलसी का बनना-बिगड़ना तो राम जी के हाथ में है। यदि वह खुश रहेंगे तो मुझे सुख मिलेगा और नाराज हो जायँगे तो

दुःख पड़ेगा, पर मेरा प्रेम और विश्वास उनके चरणों में सदा एक सा बना रहेगा। इसी से मैं सदा सानंद रहता हूँ ॥ ४ ॥

'भावार्थ' हो गया तो 'टिप्पणी' को भी देख लीजिए। लिखते हैं–

(१) इस पद में गोसाईं जी ने, एक प्रकार से, अपनी राम-कहानी कही है। उन्होंने राम और गुरु में अभेद माना है। इसलिए कहीं राम और कहीं गुरु, इन दोनों ही शब्दों का प्रयोग किया है। कबीरदास जी ने तो गुरु को हरि से भी बड़ा माना है। लिखते हैं–

गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागौं पाँय।
बलिहारी गुरु आपने गोविंद दिए बताय ॥
गुरु हैं बड़े गोविंद तें, मन में देखु बिचार।
हरि सुमरै सौ वार है, गुरु सुमिरै सो पार ॥

(२) 'लोग······चहत हौं–इसका पुष्टीकरण कवितावली रामायण के निम्नलिखित छन्दों से भली भाँति हो जाता है–

धूत कहौ······देबे को दोऊ।

तथैव–

मेरे जाति-पाँति न चहौं काहू की जाति-पाँति,
मेरे कोऊ काम को, न हौं काहू के काम को।
लोक-परलोक रघुनाथ ही के हाथ सब,
भारी है भरोसो तुलसी के एक नाम को।
अति ही अयाने उपखानो नहिं बूझैं लोग,
'साहेब को गोत गोत होत है गुलाम को।'
साधु कै, असाधु कै, भले कै पोच, सोच कहा,
का काहू के द्वार पर्‍यो, जो हौं सो हौं राम को।

इन्हीं छन्दों के आधार पर, किसी-किसी के मत से, यह बात छिस

हो जाती है कि गोसाईं जी का ब्याह नहीं हुआ था, वह बालब्रह्मचारी थे।

[विनय-पत्रिका, सटीक; पृष्ठ ११७–१८]

अस्तु। एक ओर कुछ लोगों की धारणा यह है तो—

पत्नी दूसरी ओर डा० माताप्रसाद गुप्त का पक्ष यह है-

४७. ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसीदास ने विवाहित जीवन व्यतीत किया था, क्योंकि यदि वस्तुस्थिति इसके विपरीत होती तो 'दोहावली' में संकलित इस दोहे का कोई अवसर न उपस्थित होता :

खरिया खरी कपूर सब उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहिं मेलि कै बिमल विवेक विराग ॥२५५॥

और न 'विनय-पत्रिका' में तुलसीदास के निम्नलिखित कथन आते :

(क) जोबन ज्वर जुवती कुपथ्य करि
भयो त्रिदोष भरे मदन बाय ॥ ८३ ॥

(ख) सखा न सुसेवक न सुतिय न प्रभु
आप माय बाप तुलसी साँची कहत ॥ २५६ ॥

'बाहुक' के निम्नलिखित छंद से भी कदाचित् इस बात का समर्थन होता है—बाल्यावस्था में राम-सम्मुख होने के उपरान्त कवि के 'लोक रीति' में पड़ने का अभिप्राय यही ज्ञात होता है :

बालपने सूधे मन राम सनमुख गयो
राम नाम लेत माँगि खात टूक टाक हौं।
पर्‍यो लोक रीति में पुनीत प्रीति राम राय
मोहबस बैठो तोरि तरक तराक हौं।
खोटे खोटे आचरन आचरत अपनायो
अंजनीकुमार सोध्यो राम पानि पाक हौं।

तुलसी गोसाईं भयो भोंडे दिन भूलि गयो
ताको फल पावत निदान परिपाक हौं ॥ ४० ॥

४८. कहा जाता है कि वैराग्य के पूर्व वे अपनी पत्नी पर अत्यधिक आसक्त थे और रामभक्ति की ओर उनको अग्रसर करने की उत्तरदायिनी उनकी यह पत्नी ही थी। परंतु स्वयं कवि अथवा उनके किसी सम-कालीन व्यक्ति ने इसका उल्लेख नहीं किया है। यह अवश्य है कि मौखिक परंपरा इस संबंध में व्यापक तथा एक रूप रही है। प्रियादास ने 'भक्तमाल' के तुलसीदास विषयक छप्पय की टीका का आरंभ करते हुए इसी कथा का उल्लेख किया है।

[तुलसीदास, तृ० सं०, पृष्ठ १७५]

तुलसी के चरितलेखकों ने जहाँ पत्नी की फटकार को इतना महत्त्व दिया है वहीं कुछ लोगों ने उसकी उपेक्षा भी की है। और श्री रामनरेश त्रिपाठी जी तो कुछ और ही राग सुनाते हैं। सुनिए उनका पक्ष है—

माता

तुलसीदास के पिता का नाम आत्माराम और माता का नाम हुलसी प्रसिद्ध है। 'हुलसी' उनकी माता का नाम था, इसके लिए लोग कुछ प्रमाण भी देते हैं—

अकबर के प्रसिद्ध वजीर अब्दुर्रहीम खानखाना से तुलसीदास की मित्रता थी, एक बार एक गरीब ब्राह्मण की कन्या के विवाह में कुछ सहायता देने के लिए तुलसीदास ने रहीम के पास यह आधा दोहा लिख कर उसी ब्राह्मण के हाथ भेजा—

सुरतिय नरतिय नागतिय, अस चाहत सब कोय।

रहीम ने ब्राह्मण को बहुत कुछ धन देकर और दोहे की यह पूर्ति करके उसे तुलसीदास के पास वापस भेजा—

गोद लिए हुलसी फिरैं, तुलसी से सुत होय।

लोगों की यह धारणा है कि यहाँ 'हुलसी' शब्द श्लेषार्थ में प्रयुक्त हुआ है। हुलसी तुलसीदास की माता थीं और हुलसी का अर्थ प्रसन्न होकर भी है।

तुलसीदास ने रामचरित मानस के कई स्थलों में इस शब्द का प्रयोग प्रसन्न होने ही के अर्थ में किया है। जैसे—

संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी। रामचरित मानस कवि तुलसी।

यहाँ 'हुलसी' शब्द 'उत्साहित हुई' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। पर मानस में एक स्थान पर यह शब्द कुछ भ्रम भी उत्पन्न करता है—

रामहिं प्रिय पावनि तुलसी सी। तुलसिदास हित हिय हुलसी सी।

इसी 'हुलसी' को लेकर 'माता' की कल्पना की जा रही है। पर जिस माता ने तुलसीदास को जन्मते ही छोड़ दिया, उसका कौन सा सुख स्मरण करके वे इतनी कृतज्ञता प्रकट कर रहे हैं, यह विचारणीय है। और चौपाई के पहले चरण से तो यह भाव टपकता है कि राम-कथा राम को पवित्र तुलसी की तरह प्रिय है। तुलसी जलन्धर दैत्य की स्त्री थी, जिसका पातिव्रत-धर्म विष्णु ने नष्ट किया था। उसके समकक्ष हुलसी को तुलसीदास की माता क्यों माना जाय? उनकी स्त्री क्यों न माना जाय? स्त्री ने तो तुलसीदास को उपदेश भी दिया था; पर माता ने जन्म देने के सिवा और क्या किया था?

यह सब अर्थ की खींचतान है। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि उनकी माता का नाम हुलसी था, या क्या था?

सोरों में प्रसिद्ध है कि तुलसीदास की स्त्री का नाम रत्नावली और ससुर का दीनबंधु पाठक था। रत्नावली से तुलसीदास को एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ था, जिसका नाम तारक था। पर वह बचपन ही

में मर गया था। तुलसीदास का विवाह अनुमान से पचीस वर्ष की अवस्था में हुआ होगा।

[तुलसीदास और उनकी कविता, पृष्ठ १३४–५]

'सोरों' की प्रसिद्धि अथवा कहीं की अनुश्रुति वा जनश्रुति के सहारे तुलसी के जीवन में प्रवेश पाना कितना कठिन हो गया है, इसको कहने की आवश्यकता नहीं।

हुलसी

तुलसी ने स्वयं अपने विषय में जो कुछ कहा है उससे कुछ बन सके तो अच्छा, अन्यथा तुलसी का अध्ययन तो है ही। किंतु तो भी कुछ जन-श्रुतियाँ इतनी पुरानी पड़ चुकी हैं कि उनकी अवहेलना सर्वथा अमान्य समझी जायगी। अतः उनका भी ध्यान रखना ही होगा। निदान हुलसी की जिज्ञासा है।

सो 'हुलसी' तुलसी की माता का नाम कहा जाता अवश्य है। कब से इसकी प्रसिद्धि है, यह कहना सुलभ नहीं। प्रत्यक्ष इतना अवश्य है कि रहीम के कथन से यह सिद्ध ही है कि 'तुलसी' आदर्श पुरुष का नाम है। तुलसी ने 'सुरतिय, नरतिय, नागतिय' को एक करके देखा था और सबकी एक ही कामना का उल्लेख किया था। 'अस चाहत सब कोय' से यह आप ही स्फुट है। तुलसी का संकेत क्या था, इसे कौन कहे? परंतु कौन नहीं कहता कि रहीम ने क्या कहा? सच है, कहते हैं रहीम ने स्पष्ट कहा—

गोद लिए हुलसी फिरैं तुलसी सो सुत हो।

'फिरैं' के 'विशेषण' के रूप में तो 'हुलसी' को देखा नहीं जाता। हाँ, 'फिरैं' का 'कर्त्ता' हुलसी को अवश्य समझ लिया जाता है। प्रश्न उठता है, फिर इसका अर्थ क्या होगा? क्या 'हुलसी' की 'गोद' में 'तुलसी' हैं? कहाँ की बात? यह तो किसी

प्रकार संभव नहीं कि माता हुलसी की गोद को देखकर कहा जाय कि वह पुत्र तुलसी के समान हो। 'तुलसी' 'गोद' का नाम नहीं। हाँ, उसके आदर्श का नाम अवश्य है। हुलसी फिर तुलसी की माता कहाँ? पत्नी के रूप में अपनी 'गोद' से भले ही वह कामना कर ले कि वह तुलसी के अनुरूप बने।

क्लिष्ट कल्पना के सहारे यदि ऐसा अर्थ करना चाहें कि चाहने को तो सभी स्त्रियाँ, चाहे वे किसी भी योनि की क्यों न हों, यही चाहती हैं कि उनके पुत्र का नाम जगे। परंतु कामना यदि पूरी हुई तो माता 'हुलसी' की ही। वही 'गोद लिए' फिर रही हैं। अतः हो तो तुलसी के समान ही 'सुत' हो। कारण यह कि वैसा न हुआ तो जननी को सुख कहाँ? किंतु यह न तो प्रसंग के अनुकूल है और न 'तुलसी' के अनुसार। हाँ, एक किंवदंती का पोषण अवश्य है। परंतु यदि 'हुलसी' को 'तुलसी' की पत्नी कहा जाय तो इसकी संगति भी ठीक से बैठ जाय और पत्नी की भावना भी आप ही मुखर हो उठे। तुलसी का पुत्र तुलसी के अनुरूप ही बने। किंतु वस्तुतः इस दोहे में 'हुलसी' सज्ञा नहीं, 'विशेषण' है। कह देने भर से, विवेक के अभाव में, यह जनश्रुति चल पड़ी है। सचाई से इसका संबंध नहीं।

मानस का प्रमाण

तुलसी-रहीम-दोहे का उक्त प्रमाण भले ही मान्य न हो, किंतु क्या किया जाय 'तुलसी' की उस 'हुलसी' को जो 'रामचरित-मानस' में विराजमान है किसी और ही 'तुलसी' के साथ। कवि किस हुलास से 'रामकथा' के विषय में लिखता है—

बुध विश्राम सकल जन रंजनि। रामकथा कलि कलुष विभंजनि।
रामकथा कलि कामद गाई। सुजन सजीवनि मूरि सुहाई।

सोइ बसुधातल सुधा तरंगिनि । भयभंजनि भ्रम भेक भुअंगिनि ।
असुर सेन सम नरक निकंदिनि । साधु बिबुध कुल हित गिरिनंदिनि ।
संत समाज पयोधि रमा सी । बिस्व भार भर अचल छमा सी ।
जम गन मुह मसि जग जमुना सी । जीवन मुकुति हेतु जनु कासी ।

अब तक कुछ दूर की बात रही। इसके बाद अब घर की स्थिति सामने आई तो कहा गया—

रामहि प्रिय पावनि तुलसी सी । तुलसिदास हित हिय हुलसी सी ।
सिव प्रिय मेकल सैल सुता सी । सकल सिद्धि सुख संपति रासी ।
सदगुन सुर गन अंब अदिति सी । रघुबर भगति प्रेम परिमिति सी ।

अधिक क्या ? सब का सार यह कि—

रामकथा मंदाकिनी चित्रकूट चित चारु ।
तुलसी सुभग सनेह बन सिय रघुबीर बिहारु ॥३१॥

[रामचरितमानस, प्रथम सोपान]

जी । विवाद उठा है इसमें

तुलसिदास हित हिय हुलसी सी

को लेकर । सो, कोई ऐसा कारण नहीं कि हम 'हुलसी' को प्राणी न समझें ? समझ से काम लेकर लोगों ने इसे प्राणी समझा और प्रायः जनश्रुति के कारण कह दिया 'हुलसी' को 'तुलसी' की माता । किंतु 'माता' का प्रकरण अभी है कहाँ ? उसका स्पष्ट उल्लेख तो है—

सदगुन सुर गन अंब अदिति सी

में न ?

साहस तो नहीं होता, पर कहे विना कार्य सधता भी नहीं तुलसीस दिखाई देता कि कवि की दृष्टि में 'तुलसी' का स्थान कुछ और ही है । आगे के 'तुलसीस' पर ध्यान तो दें—

करि विनय सिय रामहि समरपी जोरि कर पुनि पुनि कहै।
बलि जाउँ तात सुजान तुम्ह कहुँ विदित गति सब की अहै।
परिवारु पुरजन मोहि राजहि प्रान प्रिय सिय जानिबी।
तुलसीस सील सनेह लखि निज किंकरी करि मानिबी॥
तुम्ह परिपूरन काम जान सिरोमनि भाव प्रिय।
जन गुन गाहक राम दोष दलन करुनायतन॥ ३३६॥

अस कहि रही चरन गहि रानी। प्रेम पंक जनु गिरा समानी।
सुनि सनेह सानीं बर बानी। बहु बिधि राम सासु सनमानी।

[रामचरितमानस, प्रथम सोपान]

'सास' ने 'तुलसीस' कह कर 'राम' से क्या कहा? यही संबोधन उनको क्यों रुचा? समाधान की चिंता क्या? तुलसी बताते हैं–

सहसनाम मुनि-भनित सुनि, तुलसी-बल्लभ नाम।
सकुचत हिय हँसि, निरखि सिय, धरमधुरंधर राम॥१८८॥

[दोहावली]

जी। तुलसी के 'धरमधुरंधर राम' की स्थिति यह है कि उन्हें सदा 'तुलसी' का कुछ विशेष ध्यान है। यहाँ तक कि इसी से तुलसीदास की भी प्रार्थना है–

हनूमान ह्वै कृपालु, लाडिले लषन लाल,
भावते भरत कीजै सेवक सहाय जू।
बिनती करत दीन दूबरो दयावनो सो,
बिगरे तें आप ही सुधारि लीजै भाय जू।
मेरी साहिबिनि सदा सीस पर बिलसति,
देवि! क्यों न दास को देखाइयत पाय जू।

खीझ हू में रीझवे की बानि, राम रीझत हैं,
रीझे ह्वै हैं राम की दुहाई रघुराय जू ॥१३६॥
[कवितावली, उत्तर०]

बस इसी 'खीझ-रीझ' का परिणाम है कि 'तुलसी' अपने विषय में पछता कर कहते हैं—

जातुधान भालु कपि केवट बिहंग जो जो
पाल्यो नाथ सद्य सो सो भयो काम-काज को।
आरत अनाथ दीन मलिन सरन आए
राखे अपनाइ, सो सुभाव महराज को।
नाम तुलसी पै भोंड़े भाग, सो कहायो दास,
किए अंगीकार ऐसे बड़े दगाबाज को।
साहेब समर्थ दसरत्थ के दयालु देव,
दूसरो न तोसों तुही आपने की लाज को ॥ १३ ॥
[कविता०, उत्तर०]

अतएव जब तुलसी 'रामकथा' के विषय में लिखते हैं-

रामहि प्रिय पावनि तुलसी सी।

तब 'तुलसी' का भी कुछ विशेष अर्थ होता है और जब इसी के आगे यह भी स्पष्ट करते हैं कि—

तुलसिदास हित हिय हुलसी सी।

तब 'हुलसी' की भी कुछ विशेष चेतना हृदय में होती है। इतिहास संभवतः यह है—

करुनाकर की करुना भई।
मिटी मीचु, लहि लंक संक गइ, काहू सों न खुनिस खई।
दसमुख तज्यो दूध-माखी ज्यों आपु काढ़ि साढ़ी लई।
भव भूषन सोइ कियो बिभीषन मुद-मंगल-महिमामई।

विधि हरि हर मुनि सिद्ध सराहत, मुदित देव दुंदुभी दई।
बारहिं बार सुमन बरषत, हिय हरषत कहि जै जै जई।
कौसिक सिला जनक संकट हरि भृगुपति की टारी टई।
खग मृग सबर निसाचर सबकी पूँजी बिनु बाढ़ी सई।
जुग जुग कोटि कोटि करतब करनी न कछू बरनी नई।
राम-भजन-महिमा हुलसी हिय तुलसी हू की बनि गई ॥ ३७ ॥
[गीतावली, सुंदर०]

अंतिम पंक्ति की पुकार पर ध्यान तो दीजिए। यदि 'हुलसी' व्यक्ति है तो उसकी संगति ? कहते हैं—

राम-भजन-महिमा हुलसी-हिय।

जिससे

तुलसी हू की बनि गई।

भाव यह कि 'हुलसी' के हृदय में राम-भजन का भाव क्या जगा, उसकी फटकार ही तुलसी की दीक्षा बन गई। तो फिर 'हुलसी' तिया क्यों नहीं ? कहना प्रियादास का है न—

तिया सों सनेह, बिनु पूछे पिता गेह गई,
भूली सुधि देह, भजे वाही ठौर आए हैं।
बधू अति लाज भई, रिसि सी निकसि गई,
प्रीति राम नई, तन हाड़ चाम छाए हैं।
सुनी जब बात, मानौ होइ गयौ प्रात, वह,
पाछे पछितात, तजि, काशीपुरी धाए हैं।
कियौ तहाँ बास प्रभु सेवा लै प्रकास कीनौ,
लीनौ दृढ़ भाव नैन रूप के तिसाए हैं ॥ ५०८ ॥
[भक्तमाल, पृष्ठ ७५६]

घटना कहाँ घटी का कुछ पता नहीं। अभी चटपट उसकी चिंता भी नहीं। हाँ, समझने की बात है कि तुलसीदास ने उक्त प्रसंग के पहले ही 'मानस' में लिखा है—

अति बड़ि मोरि ढिठाई खोरी। सुनि अघ नरकहुँ नाक सँकोरी।
समुझि सहम मोहि अपडर अपने। सो सुधि राम कीन्हि नहि सपने।
सुनि अवलोकि सुचित चख चाही। भगति मोरि मति स्वामि सराही।
कहत नसाइ होइ हिअ नीकी। रीझत राम जानि जन जी की।
रहति न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरति सय बार हिए की।

प्रश्न उठता है वह 'ढिठाई खोरी' क्या जिसका निर्देश इस प्रकार किया जा रहा है। क्या कहीं उसका संकेत है? निवेदन है, ध्यान से पढ़ें। इसके आगे का वक्तव्य है–

जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली।
सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहु सो न राम हियँ हेरी।
ते भरतहि भेटत सनमानें। राजसभाँ रघुबीर बखाने।

तो फिर यही 'चूक' हम तुलसी की भी क्यों न समझें? इसी के आगे तो उनका यह भी निवेदन है–

प्रभु तरु तर कपि डार पर ते किये आपु समान।
तुलसी कहीं न राम से साहिब सीलनिधान॥
राम निकाई रावरी है सब ही को नीक।
जौ यह साँची है सदा तौ नीको तुलसीक॥
एहिं बिधि निज गुन दोष कहि सबहिं बहुरि सिरु नाइ।
बरनऊँ रघुबर बिसद जसु सुनि कलि कलुष नसाइ॥२९॥

[रामचरितमानस, प्रथम सोपान]

स्पष्ट और स्फुट है कि यहाँ 'बालि', 'सुकंठ' एवं 'बिभीषन' में एक ही दोष का आरोप किया गया है जो है स्त्री का भोग। कह लें पर-

स्त्रीभोग। किन्तु 'बालि' का 'अघ' 'सुकंठ' में कहाँ ? इसी से कवि उसे 'कुचाल' का नाम देता है और 'बिभीषन' के विषय में 'करतूति' का प्रयोग कर जाता है। कवि स्वयं अपने को क्या समझता है ?

दूर जाने की बात नहीं। कहना कवि का यह है—

जानि पहिचानि मैं बिसारे हौं कृपानिधान,
एतो मान ढीठ हौं उलटि देत खोरि हौं।
करत जतन जासों जोरिबे को जोगी जन,
तासों क्यों हू जुरी, सो अभागो बैठो तोरि हौं॥
मोसे दोस-कोस को भुवन-कोस दूसरो न,
आपनी समुझि सूझि आयो टकटोरि हौं।
गाड़ी के स्वान की नाईं माया मोह की बड़ाई,
छिनहि तजत, छिन भजत बहोरि हौं॥
बड़ो साँइद्रोही, बराबरी मेरी को कोऊ,
नाथ की सपथ किए कहत करोरि हौं।
दूरि कीजै द्वार तें लबार लालची प्रपंची,
सुधा सो सलिल सूकरी ज्यों गहडोरिहौं॥
राखिए नीके सुधारि, नीच को डारिए मारि,
दुहूँ ओर की बिचारि अब न निहोरिहौं।
तुलसी कही है साँची रेख बार बार खाँची,
ढील किए नाम-महिमा की नाव बोरिहौं॥२५८॥
[विनयपत्रिका]

इस 'साँची' के प्रकाश में इतना तो प्रकट ही हो गया कि रामविमुख तुलसी की मुख्य वेदना है—

तासों क्यों हू जुरी, सो अभागो बैठो तोरि हौं।

अर्थात् राम का होकर भी फिर राम से विमुख हो जाना ही तुलसी का महान् 'अघ' है। रही 'कुचाल' और 'करतूति'। सो है 'सुग्रीव' और 'विभीषण' की भाँति शरण में आकर भी फिर 'तारा' और 'मंदोदरी' से नया नाता जोड़ने के समान किसी नारी से संबंध स्थापित कर लेना। परिणय नहीं प्रणय के रूप में। किसी भी दशा में यह धर्म - विवाह की अपेक्षा काम-विवाह ही अधिक रहा होगा। अस्तु, अब तो स्यात् सरलता से कहा जा सकता है कि 'कवितावली' के—

परयो लोक रीति में पुनीत प्रीति राम राय
मोहबस बैठो तोरि तरक तराक हौं।

का रहस्य यही है और कदाचित् यह भी कहने में कोई क्षति नहीं कि वस्तुतः इसी 'मोहिनी' का नाम है 'हुलसी'। स्मरण है न ? न हो तो कंठ कर लें तुलसीदास की यह घोषणा—

रामहि-प्रिय पावनि तुलसी सी। तुलसिदास हित हिय हुलसी सी।

'हिय' इसलिए कि यह 'हृदय' का व्यापार है। बाहर की फटकार भीतर की आँख है और है साथ ही वियोग की दशा में मंगल की आशा। परमयोग की साधना।

प्रश्न उठता और उठ सकता है कि यह 'लोकरीति' की घटना जीवन में कब और कहाँ घटी। सो इसका भी कुछ विचार हो ले तो अच्छा। सोचने और समझने की बात है कि जो उक्त कवित्त में वहीं कहा गया है—

तुलसी गोसाईं भयो भोंडे दिन भूलि गयो
ताको फल पावत निदान परिपाक हौं।

उसका रहस्य क्या है। सो डा० गुप्त का यहाँ भी कहना है—

७५. कवि के नाम के साथ लगी हुई 'गोसाईं' उपाधि की विवेचना करना हमारे लिए आवश्यक होगा। प्रायः ऐसा विश्वास है कि एक महात्मा होने के कारण ही तुलसीदास को इस उपाधि द्वारा सम्मानित किया गया था, किंतु कभी न कभी कवि 'गोसाईं' (मठाधीश) हुआ था। यह 'बाहुक' के कुछ छंदों से, जिनमें उसने अपने 'गोसाईं' होने पर पश्चात्ताप प्रकट किया है, स्पष्ट हो जाता है। इन छंदों का संबंध उन फोड़ों से है जिनसे वह अपने जीवन के अंतिम काल में दुखित हुआ था।

[तुलसीदास, तृ० सं०, पृष्ठ १८९]

डा० गुप्त अपने मत के प्रतिपादन में जिन छंदों को प्रमाण मानते हैं उनमें से एक तो उक्त 'बालपने' वाला प्रसिद्ध, उद्धृत छंद है और दूसरा है—

असन बसन हीन विषम बिषाद लीन
देखि दीन दूबरो करै न हाय हाय को।
तुलसी अनाथ सौं सनाथ रघुनाथ कियो
दियो फल सीलसिंधु अपने सुभाय को।
नीच यहि बीच पति पाइ भरुआइ गो
बिहाय प्रभु भजन बचन मन काय को।
तातें तनु पेषियत घोर बरतोर मिस
फूटि फूटि निकसत लोन राम राय को ॥४१॥

उक्त छंदों में 'गोस्वामी जी' का जो रूप आप को दिखाई देता है उसकी पुष्टि में लिखते हैं—

७६. प्रस्तुत लेखक एक 'तुलसीदास मठ' का भी पता चलाने में सफल हुआ है, जिसकी स्थिति काशी में लोलार्क कुंड पर थी। यह मठ सं० १७९७ तक विद्यमान था, क्योंकि उसी वर्ष किसी जयकृष्ण दास

ने इस मठ में 'न्याय सिद्धांत मंजरी' की एक प्रतिलिपि की थी। ज्ञात होता है कि वे इसी मठ के थे। उक्त हस्तलिखित प्रति अब इंडिया आफिस लाइब्रेरी में है, और उसकी पुष्पिका इस प्रकार है :

'सं० १७९७ वैशाष सुदी पूर्णिमा लिखितम् लोलार्क तुलसीदास मठे जयकृष्णदास शुभम्।'

७७. महाकवि के समकालीन केशवदास जी की की हुई मठाधीशों की तीव्र निंदा से हम परिचित हैं। अतः हमें इस बात पर आश्चर्य न करना चाहिए कि तुलसीदास ने 'गोसाईं' हो जाने पर पश्चात्ताप प्रकट किया और इसी को फोड़ों का मूल कारण भी बताया। यह हमारा दुर्भाग्य है कि अब हमें लोलार्क कुंड पर के मठ के विषय में कुछ विशेष ज्ञात नहीं।

[वही पृष्ठ १९०]

परंतु विचारणीय तो यह है कि क्या कहीं गोस्वामी जी ने भी ऐसा कटु कार्य किया है और क्या कभी 'गोसाईं' 'मठाधीश' का प्रतीक बना है। यह तो उस समय का एक आदरणीय शब्द है न? स्वयं तुलसीदास भी तो आप ही कह देते हैं—

गोसाईं

नीच यहि बीच पति पाइ भरुआइगो
बिहाइ प्रभु भजन बचन मन काय को।

तो फिर 'पति पाइ' का महत्त्व क्या? उस समय आप की दृष्टि में 'गोसाईं' की प्रतिष्ठा नहीं और यहाँ 'पति पाइ' का स्पष्ट उल्लेख है। इतना ही नहीं। साथ ही यह भी विदित ही है कि तुलसी की भाषा में यह काम हुआ है—

बिहाय प्रभु भजन बचन मन काय को।

तो क्या कोई 'मठाधीश' ऐसा कर सकता है? हमारी समझ में तो यह किसी मठाधीश के लिए संभव नहीं कि सारी परंपरा को धो डाले और मन से, वचन से, और शरीर से चाहे जो करे। नहीं, यह तो सभी प्रकार से संभव है 'लोकरीति' में पड़ने अथवा विवाह कर लेने पर ही। साथ ही यह भी स्मरण रहे कि 'मठाधीश' को प्रायः 'महंत' कहते हैं कुछ गुसाईं' नहीं। फिर 'तुलसीदास मठ' का अर्थ यह कैसे समझा जाय कि वह मठ जिसकी मठपना तुलसीदास ने की? कहने का तात्पर्य यह कि 'फूटि फूटि निकसत लोन राम राय को' का कारण गोसांईपन नहीं, महंती नहीं। हाँ रामविमुख हो जाना अवश्य है। जी। 'लोकरीति' में तुलसी पड़े फिर उससे मुक्त हो साधना में लगे। नाम जगा तो अपने को कुछ लगाने लगे। 'राम' का स्थान 'मैं' को मिला तो राम का नमक सब की दृष्टि में प्रगट हो गया और तुलसी को अपने किए का भोग मिला। हमारी समझ में तो सीधी सी बात यह आती है कि तुलसी का निवास-स्थान ही आगे चलकर कभी 'तुलसी मठ' कर दिया गया हो तो इसमें आश्चर्य नहीं, पर इसी से यह निष्कर्ष निकालना कि तुलसीदास कभी 'मठाधीश' थे साहस का काम अवश्य है। 'गोसांई' का यह अर्थ नहीं। हाँ, विलसन के कथनानुसार तुलसी ने 'मठ' की स्थापना 'मंदिर' के पास ही अवश्य की, परंतु यह तो उनके मित्र 'टोडर' का कार्य कहा जाता है न?

तो 'गोसाई भयो' का अर्थ 'मठाधीश हुआ' हो जाने से तुलसी की दुर्गति सिद्ध हुई तो हो ले। हमें उसके बारे में विशेष कुछ कहना नहीं। किंतु इतना तो हम भली भाँति जानते ही हैं कि स्वयं तुलसी की वाणी है—

चेरो राम राय को सुजस सुनि तेरो, हर!
पाइँ तर आइ रह्यों सुरसरि तीर हौं।

वामदेव, राम को सुभाव सील जानि जिय,
नातो नेह जानियत रघुबीर भीर हौं।
अबिभूत, बेदन बिषम होत, भूतनाथ!
तुलसी बिकल पाहि पचत कुपीर हौं।
मारिए तो अनायास कासीबास खास फल,
ज्याइए तौ कृपा करि निरुज सरीर हौं ॥१६६॥
[कविता०, उत्तर०]

कहने का तात्पर्य यह कि 'कासीबास खास फल' के अभिलाषी तुलसीदास को किसी 'तुलसी मठ' के कारण 'मठाधीश' समझ लेना ठीक नहीं और 'गोसाईं' का अर्थ 'मठाधीश' कर देना तो और भी तुलसी-साहित्य के सर्वथा विपरीत है। 'मठ' तो नहीं पर 'मठी' का प्रयोग है तुलसी के यहाँ इस अर्थ में—

मूरति मनोहर चारि बिरचि बिरंचि परमारथ मई।
अनुरूप भूपति जानि पूजन-जोग बिधि संकर दई॥
तिन्ह की छठी, मंजुलमठी, जग सरस जिन्ह की सरसई।
किए नींद भामिनि जागरन, अभिरामिनी जामिनि भई॥३॥५॥
[गीतावली, बालकांड]

है कहीं इस 'मंजुल मठी' में कुत्सा की गंध भी? हम तो नहीं समझते कि कभी तुलसीदास के यहाँ 'गोसाईं' का कोई कुत्सित अर्थ भी है।

चेरा

जो हो, समझ लेने की बात यहाँ यह है कि तुलसी प्रत्यक्ष ही 'चेरो राम राय को' हैं। और कभी उन्होंने कहीं स्पष्ट ही कहा भी तो था—

बूझ्यो ज्योंहीं कह्यो 'मैं हूँ चेरो ह्वै हौं रावरो जू,
मेरो कोऊ कहूँ नाहिं, चरन गहत हौं।
[विनय०, ७६]

तो फिर देखना चहिए कि इस 'चेरा' का हुआ क्या? सो ध्यान देने की बात है कि–

अयोध्या प्रधानतः वैरागियों का घर है और हनुमान-गढ़ी उनका दृढ़ दुर्ग है। गढ़ी के वैरागी निर्वाणी अखाड़े के हैं और चार पट्टियों में विभक्त हैं। साधारण पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानी समझते हैं कि वैरागी लोग बड़े उद्दंड होते हैं और उनका एक उद्देश्य खाओ पिओ और मस्त रहो है, किन्तु बात ऐसी नहीं है। चेलों को पहिले बड़ी सेवा और तपस्या करनी पड़ती है। उनका प्रवेश १६ वर्ष की अवस्था में होता है यद्यपि ब्राह्मणों और राजपूतों के लिए यह बन्धन नहीं रहता। इन्हें और भी सुविधाएँ हैं। जैसे इन्हें नीच काम नहीं करना पड़ता। पहली अवस्था में चेले को 'छोरा' कहते और उसे ३ वर्ष तक मन्दिर और भोजन के छोटे छोटे बर्तन धोने को मिलते हैं, लकड़ी लाना होता है और पूजा-पाठ करना होता है। दूसरी अवस्था भी ३ वर्ष की होती है और इसमें उसे 'बंदगीदार' कहते हैं। इसमें उसे कुएँ से पानी लाना पड़ता है। बड़े बड़े बर्तन माँजने पड़ते हैं, भोजन बनाना पड़ता है, और पूजा भी करनी पड़ती है। इसकी इतने ही समय ३ वर्ष में तीसरी अवस्था आरंभ होती है जिसमें इसे 'हुड़दंगा' कहते हैं। इसमें इसे मूर्तियों को भोग लगाना पड़ता है, भोजन बाँटना पड़ता है–जो दोपहर को मिलता है–पूजा करनी पड़ती है और निशान या मंदिर की पताका ले जानी पड़ती है। दसवें वर्ष में चेला उस अवस्था को पहुँच जाता है जिसे 'नागा' कहते हैं। इस समय वह अयोध्या छोड़कर अपने साथियों के साथ भारतवर्ष के समस्त तीर्थों और पुण्य स्थानों का परिभ्रमण करने जाता है। यहाँ भिक्षा ही उसकी जीविका रहती है। लौट कर वह पाँचवी अवस्था में प्रवेश करता है और 'अतीत' हो जाता है।

[अयोध्या का इतिहास, पृष्ठ ४६–७]

वैरागी - साधना की उक्त अवस्थाओं से तुलसी का कितना लगाव रहा, इसको व्यक्त कर देने का कोई उपाय नहीं।

अतीत

उपलब्ध सामग्री के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कभी 'अतीत' के विषय में तुलसी का कहना था—

> अति सीतल अति ही अमल, सकल कामनाहीन।
> तुलसी ताहि अतीत गनि, वृत्ति सांति लयलीन ॥४८॥
>
> [वैराग्य-संदीपिनी]

क्यों ? क्यों तुलसी को अपनी इस बाल-रचना में 'अतीत' की व्याख्या करनी पड़ी ? और कह लें, पूरबी सिद्धांत पर दोहा-चौपाई की शैली में संत-गुनगान करना पड़ा ? समाधान स्यात् यही संभव है कि तुलसी 'अवध' के वैरागी थे। सगुण रामानंदी थे। कारण कुछ भी हो 'अतीत' का यह प्रयोग विचारणीय है और साथ ही यह मननीय भी कि 'अतीत' 'गोसांई' भी कहा जाता है। अब यदि चाहें तो इसकी छाया में यह सरलता से कह सकते हैं कि, हो न हो, 'तुलसी गोसांई भयो' के बाद ही विवाह किया 'तुलसी' वा 'रामबोला' ने।

अस्तु, यह तो कहा नहीं जा सकता कि गृहस्थी जमाने के लिए गृहस्थ माता-पिता ने तुलसी का विधिवत् पाणिग्रहण संस्कार

विवाह

कराया। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि 'प्रीतिपुरातन' के प्रताप से यह सहज ही संपन्न हो गया। कहाँ इसका सूत्रपात हुआ ? जिज्ञासा प्रबल है तो समाधान भी मूक नहीं। तुलसी का विनय है—

ज्यों ज्यों निकट भयो चहौं कृपालु त्यों त्यों दूरि पर्‍यो हौं।
तुम चहुँ जुग रस एक राम हौं हूँ रावरो जदपि अघ अवगुननि भर्‍यौं हौं॥
बीच पाइ नीच बीच ही छरनि छर्‍यो हौं।
हौं सुबरन कुबरन कियो, नृप तें भिखारि करि, सुमति ते कुमति कर्‍यो हौं॥
अगनित गिरि कानन फिर्‍यौं, बिनु आगि जर्‍यो हौं।
चित्रकूट गए लखि कलि की कुचाल सब, अब अपडरनि डर्‍यो हौं॥
माथ नाइ नाथ सों कहौं हाथ जोरि खर्‍यो हौं।
चीन्हों चोर जिय मारिहै तुलसी सो कथा सुनि, प्रभु सों गुदरि
निबर्‍यो हौं॥२६६॥
[विनयपत्रिका]

गोस्वामी जी के इस आत्मकथन की व्याप्ति कहाँ तक है? क्या इसके

बीच पाइ नीच बीच ही छरनि छर्‍यो हौं

की संगति 'हनुमानबाहुक' के

नीच यहि बीच पति पाइ भरुआइगो

के साथ सटीक नहीं बैठ जाती? कहा जा सकता है कि 'चित्रकूट'-संबंधी 'तुलसी' का एक दूसरा पद भी तो है? कहते हैं—

मेरो कह्यो सुनि पुनि भावै तोहि करि सो।
चारिहूँ बिलोचन बिलोकु तू तिलोक महँ
तेरो तिहुँ काल कहू को है हितु हरि सो॥
नए नए नेह अनुभए देह-गेह बसि
परखे प्रपंची प्रेम परत उघरि सो।
सुहृद-समाज दगाबाजि ही को सौदा सूत
जब जाको काज तब मिलै पाँय परि सो॥
बिबुध सयाने पहिचाने कैधौं नाहीं नीके,
देत एकगुन लेत कोटिगुन भरि सो।

करम धरम स्रम - फल रघुबर बिनु
राख को सो होम है, ऊसर कैसो बरिसो ॥
आदि अंत बीच भलो, भला करै सब ही को
जाको जस लोक बेद रह्यो है बगरि सो ।
सीतापति सारिखो न साहिब सील-निधान,
कैसे कल परै सठ बैठो सो बिसरि सो ॥
जीव को जीवन-प्रान, प्रान को परम हित
प्रीतम पुनीत कृत नीचन निदरि सो ।
तुलसी तोको कृपालु जो कियो कोसलपाल
चित्रकूट को चरित्र चेतु चित करि सो ॥२६४॥
[विनयपत्रिका]

चित्रकूट को चरित्र

गोस्वामी तुलसीदास जी ने चलते-चलते जो कुछ कह दिया उसको जान लेना खेल नहीं। 'चित्रकूट को चरित्र' का पता क्या ? 'विनयपत्रिका' के टीकाकार श्री वियोगी हरि जी इसको इस रूप में प्रकट करते हैं–

(५) 'चित्रकूट को चरित'—एक दिन चित्रकूट में गोसाईं तुलसीदास जी को घोड़ों पर चढ़े हुए दो अपूर्व सुन्दर राजकुमार दिखाई दिए। वे एक मृग के पीछे घोड़ा दौड़ाते हुए जा रहे थे। गोसाईं जी कुछ ध्यानावस्थित से थे। ध्यान में विघ्न पड़ने की आशंका से उन्होंने अपने नेत्रों को बन्द करके भूमि की ओर कर लिया। कुछ देर बाद हनुमान जी ने दर्शन देकर उनसे कहा कि क्यों श्रीराम लक्ष्मण के दर्शन मिले या नहीं ? जो दो राजकुमार अभी घोड़े पर चढ़े इधर से गए हैं, वही रामचन्द्र और लक्ष्मण हैं। गोसाईं जी पछताने लगे। बोले—

लोचन रहे बैरी होय ।
जान-बूझ अकाज कीनों, गए भू में गोय ॥
अविगत जु तेरी गति न जानी, रह्यो जागत सोय ।
सबै छवि की अवधि में हैं निकसि गे ढिग होय ॥
करम-हीन मैं पाय हीरा, दियो पल में खोय ।
'दास तुलसी' राम बिछुरे, कहौ कैसी होय ॥

इसी प्रत्यक्ष दर्शन की ओर गोसाईं जी का, इस पद्य में, संकेत जान पड़ता है ।

[विनय-पत्रिका (सटीक), पृष्ठ ४०४]

इस 'प्रत्यक्ष दर्शन' के स्वरूप में एकता भले ही न हो पर है यह एक प्रकार से अति प्रचलित मत । इसके अतिरिक्त इस 'दर्शन' का एक दूसरा भी रूप है । श्री रामनरेश त्रिपाठी जी लिखते हैं—

एक दिन तुलसीदास चित्रकूट में रामघाट पर बैठे हुए राम के ध्यान में निमग्न थे । इतने में एक सुन्दर पुरुष ने आकर कहा—बाबा, चंदन दो । तुलसीदास चंदन घिसने लगे । उसी समय तुलसीदास को सूचना देने के लिए हनुमान जी ने सुग्गे का रूप धर कर आकाश से उड़ते हुए यह दोहा पढ़ा—

चित्रकूट के घाट पर, भइ संतन की भीर ।
तुलसिदास चंदन घिसें, तिलक देत रघुवीर ॥

यह सुनकर तुलसीदास रामचंद्र की शोभा देखने लगे और देखते-देखते आनंदमग्न होकर मूर्छित हो गए । रामचन्द्र स्वयं चंदन लगा कर अंतर्धान हो गए ।

[तुलसीदास और उनकी कविता, पृष्ठ १४३–४]

इसमें संदेह नहीं कि प्रथम 'प्रत्यक्ष दर्शन' का मेल तुलसी के इस कवित्त से प्रत्यक्ष है—

मोह-बन कलिमल-पल-पीन जानि जिय,
साधु गाय बिप्रन के भय सो नेवारिहैं ।
दीन्हीं है रजाइ राम पाइ सो सहाइ लाल,
लषन समर्थ बीर हेरि हेरि मारिहै ॥
मंदाकिनी मंजुल कमान असि, बान जहाँ,
बारि-धार धीर धरि सुकर सुधारिहै ।
चित्रकूट अचल अहेरि बैठ्यो घात मानों,
पातक के ब्रात घोर सावज संहारिहै ॥ १४२ ॥
[कवितावली]

चित्रकूट

किन्तु क्या यही तुलसी का अभीष्ट 'चित्रकूट' है ? निवेदन है कुछ और भी । 'संहार' से संतोष कहाँ ? इसी से इसके पहले 'निमंत्रण' है—

जहाँ बन पावनो सुहावनो बिहंग मृग,
देखि अति लागत अनंद खेत खूँट सो ।
सीताराम-लखन-निवास, बास मुनिन को,
सिद्ध साधु साधक सबै बिबेक बूट सो ॥
झरना झरत झारि सीतल पुनीत बारि,
मदाकिनी मंजुल महेस जटाजूट सो ।
तुलसी जौं राम सों सनेह साँचो चाहिए
तौ सेइए सनेह सों बिचित्र चित्रकूट सो ॥ १४१ ॥
[कवितावली]

और साधक से खुली घोषणा—

चित्रकूट सब दिन बसत, प्रभु सिय-लषन-समेत ।
रामनाम-जप जापकहिं तुलसी अभिमत देत ॥ ४ ॥
[दोहावली]

तो फिर उक्त 'साक्षात्कार' में 'सीता का अभाव क्यों ? यहाँ की तो स्थिति ही कुछ और है। देखिए—

चित्रकूट अति बिचित्र, सुंदर बन महि पवित्र,
पावनि पय सरित सकल मल-निकंदिनी।
सानुज जहँ बसत राम, लोचनाभिराम,
बामअंग बामाबर बिस्व-बंदिनी ॥ १ ॥
चितवत मुनिगन चकोर, बैठे निज ठौर ठौर,
अक्षय अकलंक सरद-चंद - चंदिनी।
उदित सदा बन-अकास, मुदित बदत तुलसिदास,
जय जय रघुनंदन जय जनकनंदिनी ॥ २ ॥४३॥

इस 'जय जय कार' के भीतर से जो ध्वनि गूँजती है वह है—

बिरचित तहँ पर्नसाल, अति बिचित्र लषन लाल,
निवसत जहँ नित कृपालु राम जानकी।
निजकर राजीवनयन पल्लव-दल रचित सयन
प्यास परसपर पियूष प्रेम-पान की ॥ २ ॥
सिय अँग लिखैं धातुराग, सुमननि भूषन-बिभाग,
तिलक करनि का कहौं कलानिधान की।
माधुरी बिलास हास, गावत जस तुलसिदास,
बसति हृदय जोरी प्रिय परम प्रान की ॥४॥४४॥
[गीतावली अयोध्याकांड]

फिर इस 'जोरी' का दर्शन 'चित्रकूट' में क्यों नहीं ? कवि अपडर इसी प्रसंग में इतना और भी कह जाता है—

काम कौतुकी यहि बिधि प्रभुहित कौतुक कीन्ह।
रीझि राम रतिनाथहिं जग-विजयी बर दीन्ह ॥ १७ ॥

दुखवहु मोरे दास जनि, मानेहु मोरि रजाइ।
'भले हि नाथ' माथे धरि आयसु चलेउ बजाइ ॥ १८ ॥
[वही, गीत ४०]

फिर भी पता नहीं कि क्या हो गया जो तुलसी को कलप कर कहना पड़ा—

चित्रकूट गए लखि कलि की कुचाल सब, अब अपडरनि डर्‌यो हौं।

इतना ही नहीं, अपितु—

चीन्हों चोर जिय मारि है।

तो फिर यह 'चिन्हारी' कैसी ? 'जिय' की चोरी तो नहीं है ? अनुमान के सहारे कहने को कुछ भी कह लिया जाय, किंतु 'कलि की कुचाल' का भंडाफोड़ अब भी कठिन ही है। हाँ, एक तुलसी का अति प्रसिद्ध दोहा है; कहते हैं किसी अनुभूति के सहारे—

घर कीन्हे घर जात है, घर छाँड़े घर जाइ।
तुलसी घर बन बीच ही, राम-प्रेमपुर छाइ ॥ २५६ ॥
[दोहावली]

इसमें तुलसी की आप-बीती हो तो आश्चर्य क्या ? 'घर करने' का प्रश्न भी कितना जटिल है ? परंतु 'राम-प्रेमपुर' का रहस्य क्या ? क्या हम प्रकृत परिशीलन के प्रकाश में 'रामपुर' के ढंग पर 'राम-प्रेमपुर' को 'चित्रकूट' नहीं मान सकते ? मानें वा न मानें पर इतना तो प्रकट ही है कि 'कलि की कुचाल' का कुछ नाता तुलसी के जीवन से अवश्य है। भावी पत्नी का स्वरूप यहीं खिला हो तो विस्मय की बात नहीं। वह 'महेवा' की रही हो तो कोई बात नहीं। कहीं उसका जन्म तो हुआ ही होगा।

परंतु तुलसी से उसका पता पा लेना संभव नहीं दिखाई देता। निदान उसकी और अधिक जिज्ञासा नहीं।

रामराजधानी

हाँ, जानने की उत्सुकता यह अवश्य है कि तुलसी का 'बालपन' कहाँ और कैसे बीता। सो उनका आप ही यह सीधा सा कथन है—

रामगुलाम तुही हनुमान गुसाईं सुसाईं सदा अनुकूलो।
पाल्यौं हौं बाल ज्यों आखर दू पितुमातु ज्यौं मंगलमोद समूलो।
बाहुँ की बेदन, बाँहपगार! पुकारत आरत आनंदभूलो।
श्रीरघुबीर निवारिए पीर, रहौं दरबार परौ लटि लूलो॥ ३६॥

[हनुमानबाहुक]

तुलसी का पालन-पोषण जिस 'दरबार' में हुआ उसका उल्लेख हो गया। अब उसकी स्थिति का बोध होना चाहिए। सो भी विदित ही है तुलसी की इस वाणी से—

जयति अंजनी-गर्भ-अंभोधि-संभूत-विधु विबुधकुल-कैरवानंदकारी।
केसरी-चारु-लोचन- चकोरक-सुखद, लोकगन-सोकसंतापहारी॥
जयति जय बालकपि-केलि-कौतुक-उचित-चंडकरमंडल-ग्रासकर्ता।
राहु-रवि-सक्र-पवि-गर्व-खर्वीकरन, सरन भयहरन, जय भुवनभर्ता॥
जयति रनधीर रघुबीर-हित देवमनि रुद्र अवतार संसारपाता।
विप्र-सुर-सिद्ध-मुनि-आसिषाकार-वपुष बिमल-गुन-बुद्धि-बारिधि बिधाता।
जयति सुग्रीव-सिच्छादि-रच्छन-निपुन, बालि-बलसालि-बध मुख्य-हेतू।
जलधि-लंघन-सिंह, सिंहिका-मद-मथन, रजनिचर-नगर-उत्पातकेतू॥
जयति भूनंदिनी-सोच-मोचन, विपिनदलन, घननादबस, बिगतसंका।
लूमलीला - अनलज्वालमालाकुलित, होलिकाकरन - लंकेसलंका॥
जयति सौमित्ररघुनंदनानंदकर, रिच्छ-कपि-कटक-संघटविधाई।
बद्ध-वारिधि-सेतु, अमरमंगलहेतु, भानुकुलकेतु-रनबिजयदाई॥

जयति जय बज्रतनु, दसन, नख, मुखबिकट, चंड-भुजदंड, तरुसैलपानी।
समर-तैलिकयंत्र तिल-तमीचर-निकर पेरि डारे सुभट घालि घानी॥
जयति दसकंठ-घटकरन-बारिदनाद-कदन-कारन, कालनेमि-हंता।
अघट-घटना-सुघट-बिघटन-बिकट, भूमि-पाताल-जल-गगन - गंता॥
जयति बिस्व-बिख्यात बानैत, बिरुदावली बिदुष बरनत बेद बिमलबानी।
दास तुलसी-त्रास-समन सीतारमन-संग सोभित राम राजधानी॥ २५॥

[विनयपत्रिका]

राम की राजधानी अयोध्या में ही तुलसी का पालन-पोषण हुआ तो इसमें अनोखा क्या हो गया? यहीं रुद्रावतार हनुमान भी तो अपने प्रभु के साथ ही विराजमान हैं? फिर यहीं सब की कृपा से तुलसी का जीवन-निर्वाह क्यों नहीं? कहते भी हैं और खुलकर—

हनुमत्प्रसाद

जयति सिंहासनासीनसीतारमन निरखि निर्भर-हरष-नृत्यकारी।
रामसम्राज-सोभा-सहित सर्वदा तुलसिमानस-रामपुर-बिहारी॥२७॥

[विनयपत्रिका]

अतएव कोई कारण नहीं कि हम इसी 'रामपुर-बिहारी' हनुमान की सेवा में तुलसी के जीवन का विकास क्यों न मानें और क्यों इसका श्रेय 'रामराजधानी' को छोड़ कर किसी अन्य को दें?

तुलसी का जीवन हनुमत्कृपा से जैसा कुछ बना उसका सार है कुछ भेदभरी भाषा में—

समरथ सुवन समीर के रघुबीर पियारे।
मो पर कीबे तोहि जो करि लेहि भिया, रे॥
तेरी महिमा तें चलै चिंचिनी - चियाँ रे।
अँधियारे मेरी बार क्यों? त्रिभुवन उजियारे॥

केहि करनी जन जानि कै सनमान किया रे।
केहि अघ अवगुन आपनो करि डारि दिया रे॥
खायो खोंची माँगि मैं तेरो नाम लिया रे।
तेरे बल, बलि, आजु लौं जग जागि जिया रे॥
जो तोसों होतौ फिरौ मेरो हेतु हिया रे।
तौ क्यों बदन देखावतो कहि बचन इया रे॥
तो सो ज्ञाननिधान को सर्वज्ञ बिया रे?
हौं समुझत साँई-द्रोहि की गति छार-छिया रे॥
तेरे स्वामी राम से, स्वामिनी सिया रे।
तहँ तुलसी के कौन को काको तकिया रे॥३३॥

[विनयपत्रिका]

रामंमदिर

तुलसी हनुमान के सहारे बन गए। उनका शरीर 'झरी' से पुष्ट हो गया। परंतु क्या कभी अयोध्या में तुलसी को कहीं कोई 'राम-मंदिर' भी दीख पड़ा? कैसे कहा जाय? निवेदन तो उनका यह है जो किसी प्रकार भी प्रत्यक्ष राम-मंदिर के पक्ष में नहीं जा सकता। कहते हैं—

जानकीनाथ रघुनाथ रागादितम - तरणि, तारुण्यतनु तेजधामं।
सच्चिदानंद आनंदकंदाकरं बिस्वबिस्राम रामाभिरामं॥
नीलनव - वारिधर सुभग-सुभ - कांतिकर पीतकौसेय - बरबसन - धारी।
रत्नहाटक - जटित मुकुट मडित मौलि भानुसत - सदृस - उद्योतकारी॥
स्रवन कुंडल, भाल तिलक, भ्रूरुचिर अति, अरुन अंभोज लोचन बिसालं।
वक्त्र - आलोक त्रैलोक्य - सोकापहं, माररिपु-हृदय-मानस-मरालं॥
नासिका चारु, सुकपोल, द्विज वज्रद्युति, अधर बिंबोपमा, मधुर हासं।
कंठ दर, चिबुक बर, बचन गंभीरतर, सत्यसंकल्प सुरत्रासनासं॥

सुमन-सुविचित्र-नवतुलसिका-दलजुतं मृदुल बनमाल उर भ्राजमानं।
भ्रमत आमोदबस मत्तमधुकर-निकर मधुरतर मुखर कुर्वन्ति गानं॥
सुभग श्रीवत्स केयूर कंकन हार किंकिनी-रटनि कटितट रसालं।
बाम दिसि जनकजासीन-सिंहासनं कनक-मृदुबल्लिवत तरुतमालं॥
आजानुभुजदंड, कोदंड मंडित बाम बाहु, दक्षिण पानि बानमेकं।
अखिल मुनिनिकर सुरसिद्ध गंधर्व वर नमत नर नाग अवनिप अनेकं॥
अनघ अविछिन्न सर्वज्ञ सर्वेस खलु सर्वतोभद्र दाताऽसमाकं।
प्रणतजन-खेदविच्छेद-विद्या-निपुन नौमि श्रीराम सौमित्रि-साकं॥
युगल पदपद्म सुखसद्म पद्मालयं, चिह्न कुलिसादि सोभातिभारी।
हनुमंत-हृदिविमल-कृत परममंदिर सदा दासतुलसी सरन-सोकहारी॥५१॥
[विनयपत्रिका]

जी। तुलसीदास ने 'परममंदिर' का उल्लेख तो कर दिया, किंतु कहीं प्रत्यक्ष 'मंदिर' का पता नहीं दिया। तो क्या इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि वस्तुतः इस 'मंदिर' का वहाँ उस समय सर्वथा लोप ही था? कारण कि यही तुलसीदास आगे चलकर इसी प्रसंग में फिर लिखते हैं—

विंदुमाधव

सकलसुखकंद आनंदवन-पुण्यकृत बिंदुमाधव द्वंद्व-बिपति-हारी।
यस्यांघ्रिपाथोज अज शंभु सनकादि सुक शेष मुनिवृंद अलि निलयकारी।
अमलमरकत श्याम, काम-सतकोटि-छवि, पीतपट तडित इव जलदनीलम्।
अरुणशतपत्र-लोचन, विलोकनिचारु, प्रणतजन-सुखद, करुणार्द्रशीलम्॥
काल-गजराज-मृगराज, दनुजेश-बन-दहन-पावक, मोह-निशि-दिनेशम्।
चारिभुज चक्र कौमोदकी जलज दर सरसिजोपरि यथा राजहंसम्॥
मुकुट कुंडल तिलक, अलक अलि-व्रात इव, भृकुटि द्विज अधरबर चारु नासा।
रुचिर सुकपोल, दर ग्रीव सुख सींव, हरि, इंदुकर-कुंदमिव मधुरहासा॥

लिए गँठिया लेना होगा कि भवानीदास ने एक प्रसंग का उल्लेख किया है इस रूप में—

दछिन को एक नृपति पुजारी। अति नेष्ठिक बहु प्रतिमा धारी।
श्री रघुनाथ कृपा तेहि कीन्ही। निज सरूप हित अज्ञा दीन्ही।
मम प्रतिमा अवधहि पहुँचावो। जन्म अस्थान आसोन करावो।
लै अज्ञा पालकी चढाई। सुभट द्रव्य बहु लोग पठाई।
वृंदावन पहुँचे आई। लियौ बास जमुना तट जाई।
विप्र एक दरसन हित आयौ। लखि सरूप बहु भांति लोभायौ।
तीनि दिवस बासा भयौ। बिप्र न छाँडै पास।
खान पान बिसराइ निजु। विकल प्रेम प्रभु आस॥

जन वत्सल करुना कर स्वामी। प्रेम बिबस दासन अनुगामी।
सत्य प्रीति दिज कै प्रभु चीन्ही। निज पंडन को अज्ञा दीन्ही।
अब मोहि याहि विप्र घर राखौ। बार बार प्रभु तिन ते भाखौ।
रामघाट तब मंदिर साजे। सुभग सिंगासन राम विराजे।
कियो निहाल बिप्र निज दासा। रामघाट दिज ग्रह करि बासा।

श्रम करि दछिन ते चले, अवध जन्म अस्थान।
वृंदावन दिज ग्रह रहे, ऐसे कृपानिधान॥
जाना सो प्रहलाद गज, भीषमादि कपि भाल।
रुचि बिहाइ निज दास रुचि, राखत दीनदयाल॥
जब ते लीला बान धनु, करी कृष्ण भगवान।
निज उपासना कहैं लघु, सबन गँवायो मान॥

तब ते सब मिलि लज्जित रहै। इरखा भाव हृदय निजु गहै।
तिनहि कृपा करि बोलि पठायौ। प्रभु प्रभाव सबहिन समुझायो।
अमित प्रभाव सर्वगत स्वामी। अवंसि दरस बसि अंतरजामी।
जेहि जस भाव ताहि तस मानो। एक प्रभाव बस्य जन जानो।

देखौ प्रभु अवधहि चले, जन्मथान अनुमानि ।
बीच प्रेम बस विग्रग्रह, रहे प्रीति पहिचानि ॥
[चरित्र, पृष्ठ २१-२२]

भवानीदास की भाषा सरल पर उनका संकेत गूढ़ होता है। हमारी समझ में तो इस रचना में थोड़े में बहुत कुछ कह दिया गया है। सोचिए तो सही, इस दोहे का मर्म क्या है—

वृंदावन-गमन

श्रम करि दछिन ते चले, अवध जन्म अस्थान ।
वृंदावन दिज ग्रह रहे, ऐसे कृपानिधान ॥

'कृपानिधान' की इस कृपा के भीतर हमें तो ऐसा दिखाई देता है कि जब उदार और दृढ़ अकबर ने मंदिर के नवनिर्माण की अनुमति दे दी और काशी तथा मथुरा में राजा टोडरमल और मानसिंह आदि के उद्योग से बहुत से मंदिर बन चले तब लोगों को जन्म-स्थान की भी सूझी और इसका भी आंदोलन दक्षिण से उठा। परंतु अकबर की नीति थी इस स्थान के लिए कुछ कड़ी। अतः यह देखकर उक्त आंदोलन आगे न बढ़ सका। संभव है बीरबर ने कुछ बीच-बचाव कर दिया हो। हुआ कुछ भी हो, किंतु यह संभव नहीं कि इसका उस समय की राजनीति से कुछ नाता न रहा हो। यही नहीं, इसी की छाया में 'कृष्ण' के 'रामरूप' का रहस्य भी आप ही स्फुट हो उठता है और दोनों का मिला-जुला प्रभाव यह पड़ता है कि, हो न हो, यहाँ भी तुलसी का कुछ ध्येय हो, जिसकी सफलता के अभाव में उन्हें 'अवध' में कुछ विशेष करने की सूझी हो। कब उन्होंने कहाँ पर रहकर क्या काम किया इसका पता क्या? किंतु जो सब के सामने है वह यह है कि 'अयोध्या' में 'जन्म-स्थान' के मंदिर का निर्माण न हो सका और उस प्रतिमा की प्रतिष्ठा वृंदावन

में ही हो गई। तुलसीदास बस काशी के 'विंदुमाधव' की छवि पर निहाल होते रहे।

तुलसीदास का वृंदावन-वास किस महत्त्व का है, इसका कुछ आभास तो हो ही गया होगा। भवानीदास का अगला कथन यह है कि—

विपुल काल सतसंग हित, कियौ वास विश्राम।
पुनि आए श्री अवध पुर, जो निज प्रभु को धाम॥

पता नहीं 'निज प्रभु को धाम' की व्याप्ति कितनी है। क्या इसका अर्थ 'निज धाम' भी लगाया जा सकता है? न सही। जो

काशी-वास

बात प्रकट है वह यह है कि तुलसी को भी अवध छोड़कर काशी जाना पड़ा विषाद के साथ, कुछ सोच-समझ कर। जी को समझा-बुझा कर। किंतु 'कराल कलिकाल' की कृपा वहाँ भी बनी रही। वहाँ भी कुछ मन की न हो सकी और तन को कष्ट मिलने लगा तो अंत में ऊबकर विश्वनाथ के दरबार में पहुँचे और अपनी सारी स्थिति का कविता में ज्ञापन किया। खुलकर कह ही तो दिया—

जीबे की न लालसा, दयालु महादेव! मोहिं,
मालुम है तोहिं मरिबेई को रहतु हौं।
कामरिपु राम के गुलामनि को कामतरु,
अवलंब जगदंब सहित चहतु हौं॥
रोग भयो भूत सो, कुसूत भयो तुलसी को,
भूतनाथ पाहि पदपंकज गहतु हौं।
ज्याइए तौ जानकी-रमन-जन जानि जिय,
मारिए तौ माँगी मीचु सूधियै कहतु हौं॥१६७॥
[कवितावली, उत्तर०]

तुलसीदास की वेदना मुखर है और भावना दर्शनीय। तुलसी फिर भी अपनी आन पर कितने दृढ़ हैं। माँग में कोई कमी नहीं। 'जगदंब' का 'अवलंब' अनिवार्य है। माता का सहारा नहीं तो पिता का प्रसाद कैसा? सो तो ठीक, और इसमें भी संदेह नहीं कि काशी में भी तुलसी 'जानकी-रमन-जन' के रूप में ही विद्यमान हैं। किंतु विचारणीय प्रश्न यह है कि फिर मरने के लिए काशी का वास क्यों? क्या स्वयं 'रामधामदा पुरी' की उपेक्षा तुलसी इस प्रकार स्वयं नहीं कर देते हैं? परिस्थिति को देखते हुए 'नहीं' का नाम कौन ले सकता है? किंतु कौन नहीं कह सकता कि तुलसी के इस विषाद का कुछ न कुछ रहस्य अवश्य है? सो उन्हीं का कथन है यह भी—

ज्ञान, वैराग्य, धन, धर्म, कैवल्य सुख,
सुभग सौभाग्य शिव सानुकूल।
तदपि नर मूढ़ आरूढ़ संसार-पथ
भ्रमत भव विमुख-तव-पादमूलं॥
नष्टमति, दुष्ट अति, कष्टरत, खेदगत
दासतुलसी शंभु शरण आया।
देहि कामारि श्रीरामपद पंकजे
भक्तिमनवरत गतभेदमाया॥ १०॥

[विनयपत्रिका]

'कष्टरत' और 'खेदगत' तुलसी के 'कष्ट' और 'खेद' का अंत कहाँ? फलतः काशी में भी उन्हें कुछ भोगना पड़ा। विषाद की वाणी है—

यातना

देव बड़े, दाता बड़े, संकर बड़े भोरे।
किए दूर दुख सबनि के जिन जिन कर जोरे॥

सेवा सुमिरन पूजिबो, पात आखत थोरे।
दियो जगत जहँ लगि, सबै सुख गज रथ घोरे॥
गाँव बसत, बामदेव, मैं कबहूँ न निहोरे।
अधिभौतिक बाधा भई, ते किंकर तोरे॥
बेगि बोलि, बलि, बरजिए करतूति कठोरे।
तुलसी दलि रूँध्यो चहैं सठ साखि सिहोरे॥ ८॥

[विनयपत्रिका]

'ते किंकर तोरे' पुकार कर कहता है कि 'बाधा' कहाँ से पहुँचाई जा रही है और

तुलसी दलि रूँध्यो चहैं सठ साखि सिहोरे

से विदित ही है कि उनकी शठता किस निम्नकोटि की है। अन्यत्र भी तुलसीदास ने कहा है—

देवसरि सेवौं बामदेव गाउँ रावरे ही,
नाम राम ही के माँगि उदर भरत हौं,
दीबे जोग तुलसी न लेत काहू को कछुक,
लिखी न भलाई भाल, पोच न करत हौं॥
एते पर हू जो कोऊ रावरो ह्वै जोर करै,
ताको जोर, देवे दीन द्वारे गुदरत हौं।
पाइकै उराहनो उराहनो न दीजै मोहिं,
काल-कला कासीनाथ कहे निबरत हौं॥ १६५॥

[कवितावली, उत्तर०]

हमारी समझ में इस 'काल-कला' के भीतर बहुत कुछ भरा है। इस कांड की भीतरी माया को समझे बिना इस 'जोर' का रहस्य खोलना संभव नहीं। 'इतिहास' मूक हो पर 'काव्य' डंके की चोट पर पुकार कर कहता है कि इसके पीछे शासन का

काल-कला

हाथ है। सो सौभाग्य से पथ-प्रदर्शन को भवानीदास यहाँ भी सामने आते हैं और 'अथ 'दंडी प्रसंग' में इसका भेद बहुत कुछ अपनी शैली में खोल जाते हैं। देखिए कहते हैं—

काशीपुरी विप्र एक रहै। करि निज धर्म कर्म निरबहै।
बहुत काल ग्रह आश्रम धर्यौ। दंड करन पुनि वृति संभर्यौ।
त्याग्यौ सुत वित नारि सनेहा। तीरथ अटन गयौ तजि गेहा।
बिपुल बरख एहि बिधि चलि गयौ। पतिनी मन अस बिसमै भयौ।
अमित काल भये पति नहि आयौ। आयु बीति की काहु लोभायौ।
है निरास निरबाहु न देख्यौ। इंद्रिन के बस आपुहि लेख्यौ।
तब बिचार कीन्हौ मन माहीं। इमि बिभिचार किए भल नाहीं।
ताते कहूँ ठाँव अब कीजै। अंत निबाहु होइ दुख छीजै।

एक वैरागी वेष तह, तासो प्रीति डिठाइ।
लोक लाज के कारने, तजि ग्रह चली दुराइ॥
नारि पुरुष की प्रीति जसि, करि परिहरि निज ग्रेह।
गई कतहु यह यो ठकै, प्रथम आचरन नेह॥

कछु दिन में दंडी तह आयौ, ग्रह गति सुनि लखि बहु दुख पायौ।
वैरागी तिय जो लै गयौ, करै सोक मनो हिय लै गयौ।
जौ नहि दंड करौं तिन केरो, तौ केहि काम जोग जप मेरो।
तबै बली निज इष्ट पठायौ, पातसाह को पकरि मगायौ।

बड़ो तेज परताप जेहि, डिल्ली पति सुलतान।
परबस देखौ आपु कहँ, मुख सुखान बिलखान॥
बोध कियौ तब साह को, दीन्हौ यह उपदेस।
कंठी माला को न अब, रहै जगत में लेस॥
वैरागिन को दंड दै, अरु पुनि वेष उतारि।
कंठी माला काढि निज, मगवायो सरकारि॥

भयौ वाइ दंडी विकल, दंडी रंडी सोग।
पाषंडी हरि पद विमुख, खंडी धर्म नियोग ॥
पहुचायौ तिन साह को, ताही भाँति निदान।
ताही छिन सब देस मह, भयौ हुकुम सुलतान ॥
देस देस अज्ञा दई, सूबन सहरन माहि।
कंठी माला छोडि कै, भरि भरि गाडिन जाहि ॥
कोउ माला कर आपने, देहिन पर सो माथ।
कोऊ आपने सौ किये, काहू सिर के साथ ॥
[चरित्र, पृष्ठ ४४-५]

कंठी-माला-निषेध

कारण की सत्यता से क्या करना ? स्थिति के परीक्षण में श्री भवानीशंकर याज्ञिक जी की साखी है-

कंठी-माला-धारण के निषेध-संबंधी विश्वस्त ऐतिहासिक प्रमाण खोज निकालने की भरपूर चेष्टा की, परंतु सफलता नहीं मिली। नाभा जी ने भी एक भक्त की कथा में इसका उल्लेख किया है। वल्लभ-संप्रदाय के इतिहास में जहाँगीर-द्वारा इस प्रकार की आज्ञा निकाली जाने और गोस्वामी गोकुलनाथजी-द्वारा उस आज्ञा का विरोध करने का वर्णन 'माला-प्रसंग' के नाम से अवश्य मिलता है। इस प्रकार की आज्ञा निकाल देने की बात वैष्णव-समुदाय में सच्ची मानी जाती है, यद्यपि इतिहास-ग्रंथ इस संबंध में मौन हैं। कंठी-माला के लिए गोस्वामी गोकुलनाथ जी ने जो सफल प्रयास किया वह उनके जीवन की एक मुख्य घटना मानी जाती है।

संक्षेप में माला-प्रसंग की घटना इस प्रकार कही जाती है कि जहाँगीर बादशाह ने चिद्रूप (जदरूप अथवा जड़रूप ?) संन्यासी के कहने से कंठी-माला-धारण के विरोध में एक आदेश निकाल दिया। इसका घोर विरोध होना स्वाभाविक था। गोस्वामी गोकुलनाथ जी ने

७० वर्ष की वृद्धावस्था में काश्मीरयात्रा कर जहाँगीर से भेंट की और इस आज्ञा को हटवा दिया। जहाँगीर ने चिद्रूप संन्यासी से प्रथम बार भेंट उज्जैन में माघ शुक्ल पूर्णिमा सं० १६७३ को की थी। मथुरा की भेंट आश्विन शुक्ल दशमी सं० १६७६ को हुई थी। चिद्रूप से अकबर ने भी एक बार भेंट की थी और ये दाराशिकोह के भी मित्र थे। जहाँगीर ने चिद्रूप संन्यासी की प्रशंसा अपनी दिनचर्या की पुस्तक 'तुजुक-जहाँगीरी' में विस्तारपूर्वक की है। चिद्रूप संन्यासी का कुँवर ध्यानसिंह-द्वारा चित्रित सत्रहवीं शताब्दी का एक प्राचीन चित्र श्री कन्नोमल जी ने 'सुधा' नामक पत्रिका (वर्ष १, खंड २, संख्या ३, पृ० ३२५–२६) में छपवाया था और मुंशी देवीप्रसाद जी मुंसिफ ने 'श्री शारदा' (वर्ष १, संख्या २, पृ० १०२–१०५) में चिद्रूप संन्यासी संबंधी एक लेख छपवाया था। कंठीमाला-धारण करने के निषेध में चिद्रूप का हाथ था या नहीं यह सिद्ध करना कठिन है।

'माला-प्रसंग' के संबंध में श्री हरिराय जी ने गोस्वामी गोकुलनाथ जी की प्रशंसा में यह कहा है—

जयति विट्ठल-सुवन, प्रगट वल्लभ वली, प्रवल पन करि तिलक-माल राखी।

इस घटना से संबंध रखनेवाले हमें एक 'प्रसिद्ध' कवि के १९ छंद खोज में मिले हैं। कंठी-माला-निषेध की प्रामाणिकता सिद्ध करने के हेतु केवल दो-चार छंद यहाँ दिए जाते हैं। 'प्रसिद्ध कवि' रहीम, जहाँगीर आदि के समकालीन थे और इनके रचित रहीम की प्रशंसा के छंद मिलते हैं। अस्तु—

जती के हुकुम ते लगाई न रतीक वेर,
हुकुम हजूर ही ते साहि के किते भए।
दूर करौ माल, ततकाल टीके भालन तें
काल हू ते बिकराल दौरि हहदी गए॥

बिट्ठलेस - सुवन दुवन दलि भुवन में,
जगत 'प्रसिद्ध' जस समयाँने लै छए।
साखि परमेसुर है, भाखि कौन सकै मुख,
नाखि कैं हुकुम माला-राखि सुख कों दए॥
माल तजौ साहि के कहत ही हजूर गयौ,
नेंक हू न नयौ एक साँच ही कों भाख्यौ है।
ऐंड़ भरे वेद-मेंड़ की न कहूँ पेंड तजी,
जगत 'प्रसिद्ध' मरजाद कों न नाख्यौ है॥
जान जहाँगीर देखि धीर तन काँप उठ्यौ,
गाँउँ-छारि तीरथ कों जाहु यहै भाख्यौ है।
बिट्ठलेस के सपूत गोकुलेस के हुलास,
माल-राखि सो कलेस काहु में न राख्यौ है॥
गए कसमीर न समीर-सीत गन्यो कहूँ,
ठौर ठौर पर्‌यौ सोर जोर पारावार लौं।
साहि के हजूर उमराव ठाढ़े सुनत हैं,
ऐसी बात कही गोकुलेस केती बार लौं॥
कंठ ते न माला छारों, भाल न तिलक टारों,
जगत 'प्रसिद्ध' छन डारों तन छार लौं।
तेही छन कीरति धरनि चहुँ ओर फिरी,
जाइ देवलोक फिर पेंठिगी पतार लौं॥

साहि सराहि कही बतियाँ, छतियाँ में गही रिस कै उसर्‌यौ ना।
कंठ ते माल दिखाइ कें याहि, तजों न लजों न बजाइ कर्‌यौ ना।
ऐसी सभा में प्रभा इनके मुख, धरम धुरंधर जीय डर्‌यौ ना।
गोकुलनाथ जू टेंक तें ए जग मांझ 'प्रसिद्ध' सु नेंक टर्‌यौ ना॥

[पोद्दार अभिनंदन-ग्रंथ, पृ० ३०६-८]

'प्रसिद्ध' कवि के उक्त कथन से उस समय की व्यापक परि-
शाही शह स्थिति का कुछ परिचय हो गया तो देखें यह कि उसी शाही कोप के प्रताप से—

काशी हू मो जबहि पुनि, लागी होन कुचाल।
दंडी जाइ कह्यौ तबै, हाकिम सों ततकाल॥
वैरागिन के जुत्थ महँ, तुलसी को अधिकार।
पठवहु लोगन वेगि तहँ, ल्यावहि माल उतार॥
तब तिन कह्यो कि है नहीं, हमको इतनो जोर।
बंक दिस्टि करि लखि सकै, तिन दासन की ओर॥
तुमहू निज समरत्थ हौ, आपु चलौ यहि काज।
तेहि पाछे हमहूँ चलहिं, निज लै सकल समाज॥

[चरित्र, पृष्ठ ४६]

भाव यह कि 'कंठीमाला'-कांड का संकेत तुलसी में भी है। तुलसी अपनी अनन्य निष्ठा के कारण किसी बादशाह की शरण में कभी नहीं गए। उनकी दृष्टि में तो—

मारग मारि, महीसुर मारि, कुमारग कोटिक कै धन लीयो।
संकर कोप सों पाप को दाम परीच्छित जाहिगो जारि कै हीयो।
कासी में कंटक जेते भए ते गे पाइ अघाइ कै आपनो कीयो।
आजु कि काल्हि परौं कि नरौं जड़ जाहिंगे चाटि दिवारी को दीयो।१७९।

[कवितावली उत्तर०]

किंतु लोकमंगल की भावना यह कि अपने 'महाराज' से अनुरोध करते हैं—

एक तो कराल कलिकाल सूल-मूल तामें,
कोढ़ में की खाजु सी सनीचरी है मीन की।
वेद धर्म दूरि गए, भूमिचोर भूप भए,
साधु सीद्यमान जानि रीति पाप-पीन की॥

दूबरे को दूसरो न द्वार, राम दया-धाम !
रावरी ही गति बल - बिभव - बिहीन की ।
लागैगी पै लाज वा विराजमान बिरुदहिं,
महाराज आजु जौ न देत दादि दीन की ॥१७७॥
रामनाम मातुपितु, स्वामि समरथ हितु,
आस रामनाम की, भरोसो रामनाम को ।
प्रेम रामनाम ही सों, नेम रामनाम ही को,
जानौं न मरम पद दाहिनो न वाम को ॥
स्वारथ सकल परमारथ को रामनाम,
रामनामहीन तुलसी न काहू काम को ।
राम की सपथ सरबस मेरे रामनाम,
कामधेनु कामतरु मो से छीन छाम को ॥१७८॥
[कवितावली, उत्तर०]

रामनामी तुलसी का दृढ़ विश्वास तो देखिए कि रामनाम से उसका सब कुछ सध गया । मुगल-इतिहास उसको नहीं जानता, पर विश्व में कितने लोग हैं ऐसे जो उस मुगल - इतिहास को जानते हैं? और 'तुलसी'? उसकी कुछ न पूछिए, वह तो डंके की चोट पर कह गया है ललकार कर—

विजय

जाति के, सुजाति के, कुजाति के, पेटागिबस,
खाए टूक सबके बिदित बात दुनी सो।
मानस बचन काय किए पाप सति भाय,
राम को कहाय दास दगाबाज पुनी सो ॥
रामनाम को प्रभाउ, पाउ महिमा प्रताप,
तुलसी से जग मनियत महामुनी सो ।

अति ही अभागो अनुरागत न रामपद,
मूढ़ एतो बड़ो अचरज देखि सुनी सो ॥७२॥
[कवितावली, उत्तर०]

नाभादास की गवाही तो है ही। उस समय का भक्त ही नहीं अपितु श्रीमधुसूदन जैसा ब्रह्मज्ञानी भी कह गया है किस उल्लासमयी देवभाषा में—

आनन्दकानने ह्यस्मिञ्जङ्गमस्तुलसीतरुः।
कवितामञ्जरी यस्य रामभ्रमरभूषिता ॥

फिर सचमुच 'एतो बड़ो अचरज' का मर्म पाना कठिन नहीं। तुलसी की दृष्टि में राममय जीवन से क्या नहीं हो सकता। किस दृढ़ता का दिव्य उद्गार है—

घर घर माँगे टूक पुनि, भूपनि पूजे पाय।
जे तुलसी तब राम बिनु, ते अब राम सहाय ॥१०६॥
[दोहावली]

कारावास

पता नहीं पर प्रसिद्ध है कि कभी किसी बादशाह से तुलसी को 'कारावास' भी मिला था। कहते हैं-

कोई एक स्त्री हुती सो सती हौंन कौं जात थी। तानैं मारग मैं तुलसीदास जू सौं दंडौत करी, तब इन कह्यो सौभाग्यवती होहु। यह कहत ही वाको पति जीय उठ्यो। यह बात सुनि पातसाह जहांगीर तुलसीदास जू सौं बुलाय कही, कछु करामात दिखावो। तब इन कही, हम करामात तो कछू जानैं नहीं, तब इनकौं कैद करि राखे। ता समैं राजा अनीराय बड़गूजर तुलसीदास जू के पास आए। बीनती कीनी जु महाराज ऐसो कीजियैं हिंदवन के मारग की घटती न दीसैं, अरु आगैं तैं कोई वैष्णवन कौं संतावै नहीं। ता पर इननि एक नयो पद

बनाय वाकौं गांवन लगे। ताही समैं अगनित बांदर उपद्रव करत पातिसाह की दृष्टि परे। तब पातसाह भयमानि इनि के पाइनि आंनि परि कैं छमा करवाइ सीख दई। चलती बेर तुलसीदास जी नैं यह आग्या कीनी कि यहां श्रीराम जी के सेवक हनुमान को परकर आयो सो यह ठौर उन की भई। तुम और ठौर जाय रहो। यहां तुम्हारे ही कुटुंब के बंदीवान ह्वै रहैंगे। यह सुनि पातिसाह नैं सलेमगढ छोड़ि दयो। सो अब तक भी पातिसाह के कुटुंब के उहां कैद रहतु हैं। सो जा पद कौं बनाय गाए तै यह लीला भई सो वह यह पद–

तुमहिं न ऐसी चाहिए हनुमान हठीले।
साहिब सीताराम से तुम से जु वसीले॥
तुमरे देखत सिंघ के सिसु मैंडुक लीले।
जानति हूँ कलि तेरेउ मनु गुन गन कीले॥
हाक सुनत दसकंध के भए बंधन ढीले।
सो बल गयो किधौं भए अब गरब गहीले॥
सेवक को परदा फटै तुम समरथ सीले।
सासति तुलसीदास की सुनि सुजस तुही ले॥
तिहूँ काल तिनको भलो जे रामरंगीले॥ २॥

[नागरसमुच्चय, पृष्ठ २०२–३]

'नागरीदास' की 'पदप्रसंगमाला' के इस 'पद' में आठवीं कड़ी छूट गई है, जो इस प्रकार है–

अधिक आपु तें आपनो सुनि मान सही ले।

[विनयपत्रिका, पद संख्या ३२]

नागरीदास के कथन में कोई बात ऐसी नहीं जिसके कारण हम इस कथन को उपेक्षा की दृष्टि से देखें। हाँ, यदि चाहें तो इसे राजनीति का चक्र समझ लें। 'अनीराय बड़गूजर' जहाँगीर

के कृपापात्र थे। विद्रोही खुसरो उनके निरीक्षण में था। उनको 'मुगल' के घर-घाट का पूरा पता था। तभी तो आकर बाबा तुलसीदास को सहेज गए कि इसका परिणाम कुछ और ही होने को है। बात कुछ भी रही हो। तुलसी का कथन है–

वेद पुरान बिहाइ सुपंथ कुमारग कोटि कुचाल चली है।
काल कराल, नृपाल कृपाल न, राजसमाज बड़ोई छली है।
बर्न-बिभाग न आस्रम-धर्म, दुनी दुख-दोष-दरिद्र-दली है।
स्वारथ को परमारथ को कलि राम को नाम-प्रताप बली है ॥८५॥
[कवितावली, उत्तर०]

सती

'राम नाम' से तुलसी ने जो काम लिया उसका डंका विश्व में बज चुका है। प्रसंगवश निवेदन यह किया जाता है कि 'सती' के प्रसंग का तुलसी का एक दोहा है—

सीस उघारन किन कहेउ, बरजि रहे प्रिय लोग।
घर ही सती कहावती, जरती नाह - वियोग ॥२५४॥
[दोहावली]

अजब नहीं कि इस शाही बुलावे के पीछे कोई 'सती'—कांड हो। अभी हम इतना ही कहना अलं समझते हैं कि तुलसीदास को कभी यह राजदंड मिला अवश्य। अन्यथा इसका इतना व्यापक उल्लेख संभव न था। भवानीदास का कथन और भी विचारणीय है। 'चित्रकूट' में 'बुलावा' का समाचार पहुँचा नहीं कि—

सुनै जो समाचार सोचै बिचारै। गोसाई इहां तें कहूं ना पधारै।
सुनौ राउ राजानि आए जो ऐसो। न मानैं हमै जो करै क्यों न कैसो।
करै मेदिनी रुंड मुंडं बिहारै। नही जान देहै सो आज्ञा मिटारै।
कहौ जाइ कै साह जो आप आवै। नही रामदासान को देखि पावै।

भदावर बुंदेले चंदेले बघेले। सबै डाग के राव रावत सकेले।
कहै देह छनभंग को लाहु लीजै। करै जो कृपा राम संग्राम कीजै।
दिल्लीपति सुलतान, भोज मौज दरियाउ सम।
घटसंभव सम पान, करहि राम की कृपा ते॥

[चरित्र, पृष्ठ ७१-२]

गोस्वामी जी का उपदेश है—

तब कह्यौ गोसांई सहज सुभाई सुनि लीजै यह वाता।
जेहि देस रहीजै तासु अनादर कीजै उचित न ताता॥
इमि हांस उपद्रव देस विनासन अनुसासन बिन माने।
कोटिन जिय पीडा अगनित हिंसा अमित होत हित हाने॥
निज सुख हित कारन देव विडारन किमि करि काज करीजै।
आपुहि जो जइये मिलि तेहि अैये तौ यामै का छीजै॥
यहि भाँति सिधाये जमुनहि आए नौका रुचिर मगाई।
चढ़ि चले सुभाए अति सुख पाए भजन करत मनभाई॥

[वही, पृष्ठ ७२]

सारांश यह कि हमें 'करामात' की भाषा में इतिहास ढूँढ़ना चाहिए कुछ निरे इतिहास में अपना अतीत नहीं। शासक

शोध

की दिन-चर्या में किसी जाति का इतिहास नहीं होता। हाँ, उसके रागद्वेष का उभार अवश्य होता है। निदान उससे अलग रह साहित्य की सृष्टि की जाती है। राष्ट्र की आत्मा का निवास उसी में होता है। अस्तु, उक्त अध्ययन के आधार पर सीधे से थोड़े में कहा जा सकता है कि तुलसी आँख के तिल ही नहीं अपने समय में बहुतों की आँख की किरकिरी भी थे और इसी से अपने इष्ट से संकट के समय एक 'घनाक्षरी' में बड़ी सरलता से कह भी जाते हैं—

देवी देव दनुज मनुज मुनि सिद्धनाग,
छोटे बड़े जीव जेते चेतन अचेत हैं।
पूतना पिसाची जातुधानी जातुधान बाम
रामदूत की रजाइ माथे मानि लेत हैं ॥
घोर जंत्र मंत्र कूट कपट कुजोग रोग,
हनूमान आन सुनि छाँड़त निकेत हैं।
क्रोध कीजै कर्म को, प्रबोध कीजै तुलसी को,
सोघ कीजै तिनको जो दोष दुख देत हैं ॥३२॥
[हनुमानबाहुक]

इति

बस। इसी 'शोध' की पुकार के साथ 'तुलसी की जीवन-यात्रा' समाप्त हुई। 'इति' का पता नहीं। 'ईति' में ही जिसका जीवन बीत गया उसके 'अथ' और 'इति' की पहेली कहाँ सुलझी ? 'जन्म-स्थान' विवाद का विषय बना तो बना रहे, पर तुलसी के 'निधन-स्थान' में विवाद कब उठा ? उसका भस्म बना 'महाश्मशान' में तो संदेह क्या ? कौन नहीं जानता कि मरते-मरते भी वह कह रहा था—

जीवौं जग जानकीजीवन को कहाय जन,
मरिबे को बारानसी, बारि सुरसरि को।
तुलसी के दुहूँ हाथ मोदक हैं ऐसे ठाउँ,
जाके जिए मुए सोच करिहैं न लरिको ॥
मोको झूठो साँचो लोग राम को कहत सब,
मेरे मन मान है न हर को, न हरि को।
भारी पीर दुसह सरीर तें बिहाल होत,
सोऊ रघुबीर बिनु सकै दूरि करि को ? ॥ ४२ ॥
[हनुमानबाहुक]

स्यात् इसी के समाधान में एक आधुनिक डाक्टर कहते हैं—

कवि के रोग में और बनारसीदास के रोग में कितना साम्य है, यह आसानी से देखा जा सकता है। अंतर दोनों के निदान और उपचार में है। यदि प्रार्थनाओं आदि पर विशेष विश्वास न करके बनारसीदास की भाँति वह भी दवा-दारू पर उतारू हो जाता, तो संभवतः उसे इतना कष्ट न उठाना पड़ता जितना उसे अन्यथा उठाना पड़ा।

[तुलसीदास, तृ० सं०, पृष्ठ १८८]

दवा-दारू

'तुलसीदास' और 'बनारसीदास' एक ही समय के प्राणी थे। अतः बनारसीदास की भी सुन लीजिए। आप ही कहते हैं अपनी 'अर्द्धकथा' में-

मास एक जब भयो वितीत। पौष मास सित पष रितु सीत।
पूरब कर्म उदै संजोग। अकस्मात बात को रोग।

भयो बनारसि दास तनु कुष्ट रूप सरबंग।
हाड़ हाड़ उपजी बिथा केस रोम भ्रुव भंग॥
विस्फोटक अगनित भए हस्त चरण चौरंग।
कोई नर सीवा ससुर भोजन करे न संग॥
ऐसी असुभ दसा भई निकट न आवै कोय।
सासू और विवाहिता करहिं सेव तिय दोय॥
जल भोजन की लेहिं सुधि देहिं अन्न मुष माहिं।
औषध नावैं देह में नाक मूँदि उठि जाहिं॥

इस अवसर ही नापत कोय। औषध पुरी खवावे सोय।
चने अलौने भोजन देय। पैसा टका कछू नहिं लेय।
च्यार मास बीते इस भाँति। तब कछु भई बिथा उपसांति।
मास दोय औरो चल गए। तब बानारसि नीके भए।

[तुलसीदास, तृ० सं० पृष्ठ १८७-८ में उद्धृत]

आलोचना व्यर्थ होगी। बनारसीदास 'दवा-दारू पर उतारू' हो गए तो ठीक पर उन्होंने उसे खा भर लेने के अतिरिक्त किया क्या? यदि तुलसीदास उनके पास किसी व्यक्ति को उक्त 'औषध' के लिए भेजते तो 'बनारसीदास' तो उसका क्या उस दवा-दारू-दाता का पता भी नहीं बता पाते। कारण कि उन्हीं का तो वचन है—

इस अवसर ही नापत कोय। औषध पुरी खवावै सोय।

और इधर 'विशेष विश्वासी' तुलसीदास की स्थिति यह है कि कोई उपाय नहीं छूटा। किस अनुताप से कहते हैं—

आपने ही पाप तें त्रिताप तें, कि साप तें,
बड़ी है बाहुवेदन कही न सहि जाति है।
औषध अनेक जंत्र मंत्र टोटकादि किए,
बादि भए देवता, मनाए अधिकाति है॥
करतार, भरतार, हरतार, कर्म, काल,
को है जगजाल जो न मानत इताति है!
चेरो तेरो तुलसी 'तू मेरो' कह्यो रामदूत,
ढील तेरी, बीर मोंहि पीर तें पिराति है॥३०॥

[हनुमानबाहुक]

'औषध अनेक' की छाया में अब पाठक भलीभाँति देख सकते हैं कि वस्तुतः डाक्टर साहब का निदान कितना सटीक है। भक्त की भाषा में तो 'भगवान' ही 'नापित' के वेष में 'दवा-दारू' का काम कर जाते थे। विश्वास न हो तो किसी 'भक्तमाल' से पूछ देखें।

इधर-उधर के विवाद से कोई लाभ नहीं पता नहीं किसने

 कब कहा था—

राम नाम जस बरनि कै, भयो चहत अब मौन ।
तुलसी के मुख दीजिए, अब हीं तुलसी सोन ॥

किंतु कहते हैं कि चलते-चलते किसी को देख कर कभी गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कुछ उल्लास में आकर कहा था—

कुंकुम रंग सुअंग जितौ, मुखचंद सों चंद सों होड़ परी है ।
बोलत बोल समृद्धि चुवै, अवलोकत सोच विषाद हरी है ॥
गौरी कि गंग बिहंगिनि वेष, कि मंजुल मूरति मोद भरी है ।
पेखि सप्रेम पयान समय सब सोच बिमोचन छेमकरी है ॥१८०॥
[कवितावली, उत्तर०]

'क्षेमकरी' का यह दर्शन महाप्रयाण के समय हुआ अथवा नहीं, इसका निश्चय कौन करे ? परंतु तृतीय पंक्ति की पुकार बहुत कुछ है इसी पक्ष में । जो कुछ भी हो, और जो कुछ भी कहा जाय, उसका समाधान तुलसी तो करने से रहे । रहे संत-महंत वा महात्मा । सो उनकी भी कौन कहे ? पता नहीं, भवानीदास ने भी इसका वर्णन क्यों नहीं किया । उनका 'चरित्र' पूरा नहीं है, यह भी कहने को जी नहीं होता । उनका इष्ट क्या है ? कहना कठिन दिखाई देता है । कारण यह कि आप के 'चरित्र' का अंत है-

संत सर सरद सुवसंत सुरसाखिन को,
कंतर निरंतर अनंत ज्ञानपथ को ।
भानुकुल मुकुट सुमाल मुनि मानिन को,
पाप खल काल प्रतिपालक सुपथ को ॥
जातुधान तमभानु देवधान मघवान,
सुकबि तरन थान जान मनमथ को ।

मीन मन फंद जग लोचक चकोर चंद,
पुन्य तरु कंद नाम राम दसरथ को ॥
[चरित्र, पृष्ठ १३०]

और इसके पहले कवित्त यह-

जेई परपंची तेई पंच करि मानियत,
जेई नर खोटो तिने अटो लीजियतु है।
जेई हैं चुगुल तेई सुगुल कहावत हैं,
जेई महा पापी ते प्रतापी कीजियतु है ॥
चोरन बोलाइ सिरोपाउ देत राजा राउ
साहन पकरि बंदीखाने दीजियतु है।
ऐसे हाल देखि कलिकाल के कराल ज्वाल,
राम जी तिहारो नाम लै लै जीजियतु है ॥
[वही, पृष्ठ १३०]

ऐसी दशा में यह ठीक-ठीक समझ नहीं पड़ता कि वस्तुतः वस्तु-स्थिति है क्या ? क्या तुलसी के निधन में कुछ कलिकाल का भी हाथ है जिसे कहने का साहस भवानी-दास को नहीं है ? हो वा न हो, हमें तो आज 'ठाकुर' की इस वाणी का आस्वादन कर उस तुलसी से अमृत लाभ करना है जिसके संबंध में उसी के साथी नाभादास उसी के जीवन में मुक्तकंठ से कह गए-

सारांश

कलि कुटिल जीव निस्तार हित वाल्मीकि तुलसी भए।

फिर किसी की कुटिलता की चिन्ता क्या ?

हाँ, तो 'ठाकुर' कवि की कविता है-

वेदमत संमत पुरान अरु शास्त्रन को,
प्रेम को विलास इतिहास परसत है।

सोभा सील मई प्रीति मईं रीति मई नीति,
बड़ाई प्रमान सो प्रतच्छ दरसत है ॥
ठाकुर कहत धनि तुलसी तिहारी बानी,
अकह कहानी रससानी सरसत है ।
चंद सी चमेली सी गिरा सी गंग धारहु सी,
मघा मेघ मई रामजस बरिसत है ॥४३॥
[रामचरितमानस, मानसप्रशंसा, पृ० १०]

बस हम इसी

प्रेम को विलास इतिहास परसत है

के 'इतिहास' की शोध में हैं । देखें तुलसी के पारखी पंडित क्या कहते हैं ।

———

८—तुलसी की खोज

तुलसी के अध्ययन की जो धारा यहाँ बही है वह अबतक की बहती हुई धारा के कहाँ तक मेल में है और कहाँ तक फूट कर उससे अलग जा पड़ी है, इसकी मीमांसा में तो मनीषी मग्न होंगे ही। अभी तो हम उस शोध-धारा पर मुग्ध हैं जिसके परिणामस्वरूप आज तुलसी की स्थिति है कि—

उलझन

गोस्वामी जी कहाँ प्रकट हुए थे, यह भी सर्व-संमत रूप में नहीं कहा जा सकता। कुछ लोग चित्रकूट के पास हाजीपुर को उनका जन्म-स्थान मानते हैं। फ्रांसीसी विद्वान् तासी और अँगरेज लेखक विलसन ने इस मत का प्रवर्तन किया है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, ऐसा कोई स्थान आजकल तो है नहीं। संभव है उन्होंने राजापुर को भ्रमवश हाजीपुर लिख दिया हो। कारण, राजापुर भी चित्रकूट से कोई दस कोस पर ही है। महात्मा रूपकला जी तथा लाला सीताराम ने तारी में उनका जन्म लेना लिखा है। कहीं कहीं हस्तिनापुर को तुलसी का जन्म-स्थान बतलाया गया है। एटा जिले का सोरों भी उनका जन्म-स्थान कहलाता है। इसके प्रमाण में कुछ पुरानी जनश्रुतियाँ तो हैं ही, मानस के प्रथम सोपान का यह दोहार्द्ध भी रखा जाता है—

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकरखेत।

परंतु सूकरखेत से भाषा-विज्ञान के अनुसार 'सोरों' की निरुक्ति नहीं होती और इसके पक्ष में कुछ दिन हुए धीरे धीरे नियमित रूप से प्रकाश में आने वाली जो रचनाएँ वहाँ से प्रकट हुई हैं उनकी प्रामाणिकता

नितांत संदिग्ध और अमान्य समझी जाती है। बांदा प्रांत के राजापुर गाँव को ही अधिक विद्वान् प्राचीन परंपरा और अन्य प्रमाणों के आधार पर तुलसीदास जी की जन्मपुरी मानते हैं।

[तुलसी, द्वि० सं०, पृष्ठ ८]

आश्चर्य और विस्मय की बात है कि यह सब कुछ खोज प्रयाग के 'पच्छिम' में ही होती रही है, कभी 'पूरब' में किसी स्थान को यह महत्त्व नहीं मिला है। अब तक उपलब्ध प्रमाणों में विलसन का प्रमाण ही सब से प्राचीन है और वही सब से अधिक

भ्रांत मत

भ्रांत भी। कारण यह कि चित्रकूट के पास कहीं उनके 'हाजीपुर' का पता नहीं। राजापुर के श्री रामबहोरी शुक्ल के इस कथन के विरोध में कहा ही क्या जा सकता है कि—

संभव है उन्होंने राजापुर को भ्रमवश हाजीपुर लिख दिया हो।

हमारी समझ में स्थिति यही है। हम जानते जो हैं कि वस्तुतः विलसन साहब को जो सामग्री 'काशी' से प्राप्त हुई थी फारसी में थी। और फारसी में 'राजापुर' को 'हाजीपुर' त्वरा में पढ़ जाना असंभव नहीं। तो भी कहना डा० माताप्रसाद गुप्त का है मननीय—

इस परिपाटी के अध्ययन का एक प्रकार से श्रीगणेश करनेवाले स्वर्गीय एच० एच० विलसन महोदय थे। 'एक प्रकार से' मैंने इसलिए कहा कि यद्यपि आपने स्वतः हमारे महाकवि की रचनाओं का अध्ययन संभवतः न किया होगा, पर आपके बाद के कई लेखकों ने जो तुलसी-दास का अध्ययन हमारे सामने उपस्थित किया, उसमें दिए हुए जीवन-वृत्त के प्रमुख आधार आप ही थे। 'ए स्केच आव् दि रेलिजस सेक्ट्स आव् दि हिंदूज' नामक आप का वह निबंध जिसमें हमारे कवि का

उल्लेख हुआ था, पहले-पहल सं० १८८८ में 'एशियाटिक रिसर्चेज' में (जिल्द १६, पृ० ४८) प्रकाशित हुआ था। कवि के जीवन-वृत्त से संबंध रखनेवाली आपकी सूचना नाभादास जी के छप्पय और उस पर प्रियादास जी की टीका के अतिरिक्त कुछ जनश्रुतियों के आधार पर निर्मित थी। इस सूचना में कवि की जाति, जन्म-स्थान, काशी में कार्य-क्षेत्र, गुरु-परंपरा, जन्म-काल, देहावसान-तिथि और रचनाओं पर कुछ प्रकाश डाला है। तुलसीदास आपके निबंध का मुख्य विषय न होने के कारण यद्यपि हमें यह आशा न करनी चाहिए कि जनश्रुतियों के संग्रह करने में आपने कोई विशेष श्रम किया होगा, फिर भी वे हमारे लिए महत्त्व की हैं, क्योंकि एक तो वे पीछे संकलित की हुई जन-श्रुतियों से कुछ भिन्न हैं, और दूसरे इतनी प्राचीन हैं कि इनसे पहले किसी भी आलोचनात्मक-दृष्टि-संपन्न-व्यक्ति द्वारा संकलित की हुई जन-श्रुतियाँ इस समय अप्राप्य हैं।

[तुलसीदास, तृ० सं०, पृष्ठ १]

हम अपनी ओर से क्यों कहें? वस्तु-स्थिति के विधान में ऊहा को छूट क्यों? श्री विलसन के स्रोत से हम अनभिज्ञ नहीं। हमें पता है कि उस समय के 'हिंदू कालेज' के पुस्तकाध्यक्ष श्री मथुरानाथ जी तथा काशी-नरेश श्री उदितनारायण सिंह जी के मुंशी सीतल सिंह जी ही श्री विलसन साहब के सामग्रीदाता थे। 'काशी' को चुना और चुना 'काशीनरेश' को भी। बात पक्की कही पर काम कच्चा किया। परिणाम सामने है। तुलसी की खोज की पहली ईंट ही टेढ़ी पड़ गई फिर भवन क्या सीधा हो? कहते हैं स्यात् इन्हीं मुंशी सीतल सिंह जी के प्रमाण पर ही कि तुलसी 'काशीनरेश के दीवान' थे। कृपा कहिए काशीनरेश की कि कभी उन्होंने ऐसा दावा नहीं किया नहीं तो आज तुलसी की स्थिति ही

विलसन का स्रोत

कुछ और होती। मुंशी सीतल सिंह के विषय में यहीं इतना और जान लें कि जब महाराज उदितनारायण सिंह 'दुलहिन साहिबा' के वियोग में अत्यन्त दुःखित रहने लगे तब उनके हितैषियों ने—

मुंशी सीतल सिंह की काबिलियत की बहुत तारीफ की जो कि साबिक में दफ्तर खास गवर्नमेंट में आला ओहदा पर थे और हफ्त कलम में और शाइरी में 'बेखुद' तखल्लुस करते ताकि उनकी काबिलियत व गुफ्तगू से दिल बहले।

[तारीख बनारस, द्वि० भाग, पृ० ३४२]

सं० १८७३ की यह घटना मुंशी सीतलसिंह के महत्त्व को प्रगट करती है। आप का देहावसान सं० १९१० में हुआ। आप अरबी-फारसी के पंडित थे। फलतः आप की फारसी समझने में यदि विलसन महोदय से भूल हुई हो तो आश्चर्य नहीं। स्थिति कुछ भी हो, इतना तो व्यक्त ही है कि उन्होंने 'कवितावली' को 'गुनावली' पढ़ा है, और तुलसीदास के गुरु का नाम दिया है जगन्नाथ दास। इस भ्रम का कारण कदाचित् यह है कि इस 'नरहरिदास' का चमत्कार देखा गया जगन्नाथ पुरी में ही।

अच्छा तो विलसन महोदय की आलोचना से अलग हो

राजापुर पर कृपा

देखना यह है कि उधर हम पहले कह चुके हैं कि सं० १८८४ में राजापुर के भक्तराज छीतू ने अँगरेज को समझाया था कि 'भक्त' की अवहेलना से लाभ नहीं। पते की बात तो यह है कि भक्तराज की भाषा में—

भक्त कह्यो साहेब नहिं मरिहै, जो प्रतिपाल साधु को करिहै।

[भक्तमाला, पृ० १०६७]

सं० १८८४ के इस सत्संग का प्रभाव 'साहेब' पर जो पड़ा सो तो चंदे में प्रगट हो गया और 'राजापुर' में 'धनुषयज्ञ' का डौल

डाला गया। परंतु क्या यह 'साहेब' 'विलसन' की कलम से दूर रहा और उनकी संप्रदाय-शोध को सजग करने में समर्थ न हुआ? कैसे कहा जाय? अब तो 'राजापुर' तुलसी का जन्म-स्थान बनता जा रहा है। परंतु पता नहीं पहले यहाँ कुछ कर देने की प्रेरणा किसी को क्यों नहीं हुई? क्यों राजापुर का इतिहास आँख खोल कर नहीं पढ़ा जा रहा है और यह नहीं समझा जा रहा है कि विलसन साहब को उक्त सामग्री से लगा ऐसा ही कि तुलसीदास का जन्म-स्थान जैसे हाजीपुर (राजापुर) हो कुछ यह नहीं कि वस्तुतः उनका जन्म-स्थान हाजीपुर ही है। सो लगता रहे, आज तो राजापुर की लाग कुछ और ही है न?

'राजापुर' पर अँगरेज की कृपा का कारण है तो प्रत्यक्ष, किंतु तो भी वह आज समय पर ठीक से दिखाई नहीं देता। कौन नहीं जानता कि अँगरेज पानी से घिरा प्राणी है और स्वभावतः स्थल की अपेक्षा जल का धनी है। प्रयाग में उसका पाँव जम गया तो क्या हुआ? अभी 'यमुना' पर उसका अखंड प्रभुत्व कहाँ? उसने देख लिया कि यदि बुंदेलखंड पर प्रभुत्व जमाना है तो यमुना को सभी प्रकार से हथिया लेना अनिवार्य। कारण कि उसके बिना कार्य सरलता से सध नहीं सकता। निदान यमुना के दक्षिणी तट भी अपनाए गए और बुंदेलखंड पर आक्रमण 'राजापुर' से उतर कर सं० १८६० में किया गया। राजापुर कुछ दिन तक छावनी बना रहा। इसी सत्संग में उन्होंने देखा कि यहाँ तो 'एक पंथ दो काज' की साधना खुल कर की जा सकती है और मराठों की 'अयोध्या' की माँग का उपाय भी अच्छा किया जा सकता है कि लोकरुचि तुलसी के स्थान पर उलझ जाय और अयोध्या का आकर्षण कुछ राजापुर में ठिठुर कर रह जाय।

'काशी' से सरकारी ढंग से फारसी में जो मसाला श्री विलसन साहिब को मिला उसका उन्होंने जैसा कुछ उपयोग किया उसका कुछ आभास हो गया और यह व्यक्त हो गया कि उसको कुछ का कुछ पढ़ा भी गया है। परंतु अभी इसका बोध कहाँ हुआ कि स्वयं 'राजापुर' ने तुलसी के विषय में सरकार से क्या कहा। सो सौभाग्य से श्री रामदत्त जी भारद्वाज की कृपा से वह भी सामने है। देखिए। आप लिखते हैं—

सरकारी शोध

१०—स्टेटिकल डिस्क्रपशन एंड हिस्टोरिकल एकाउंट ऑव द नॉर्थ-वेस्टर्न प्राविंस ऑव इंडिया, एडविन टी० एटकिनसन द्वारा संपादित, प्रथम जिल्द बुंदेलखंड, इलाहाबाद, १८७४ ई० का छपा। पृष्ठ ५७२-३ पर लिखा है–

ऐसी जनश्रुति है कि अकबर के शासनकाल में तुलसीदास नाम के एक महात्मा जो सोरों, परगना अलीगंज, जिला एटा के निवासी थे, यमुना किनारे उस जंगल में आए जहाँ अब राजापुर स्थित है। उन्होंने वहाँ एक मंदिर बनवाया और स्वयं प्रार्थना ध्यान में प्रवृत्त हो गए। उनकी धार्मिकता के कारण बहुत से अनुयायी आकर वहाँ बसने लगे और जनसंख्या बढ़ने पर लोग धर्म और व्यापार दोनों की ओर प्रवृत्त हुए। तुलसीदास के उपदिष्ट नियमों का पालन आज भी राजापुर में होता है।

[नवीन भारत, २० अगस्त १९५२, पृष्ठ ५]

फिर तो यही सरकारी पक्ष हो गया और इस 'सोरों' की चर्चा कस कर की गई। परंतु जिस बात पर विशेष विचार नहीं हुआ वह है यह कि क्या जनश्रुति में 'परगना' और 'जिला' का समावेश था अथवा उसका यह पता अपनी ओर से

सोरों की सूझ

जोड़ लिया गया। प्रतीत होता है कि वहाँ नाम 'सूकरखेत' का लिया गया था और कर दिया गया उसे 'सोरों'। ऐसा क्यों हुआ? कौन कहे? किंतु कहने को वहीं आधार है यह कि—

१५—द प्रोलोग टु द रामायण आव तुलसीदास, स्पेसीमैन ट्रांसलेशन, एफ० एस० ग्राउस कृत, जर्नल आव एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल, जिल्द ४५, १८७६ ई०। इसमें लिखा है कि० गो० तुलसीदास ने 'सूकरखेत' में शिक्षा पाई है, और यह भी बताया गया है कि 'सूकरखेत' शब्द किस प्रकार 'सोरों' शब्द में परिवर्तित हो गया।
[वही, पृष्ठ ५]

किंतु कहीं यह भी स्पष्ट कर दिया गया होता कि तुलसीदास को 'सोरों' छोड़ कर क्यों 'राजापुर' के जंगल में बसना पड़ा तो स्थिति स्यात् सुलझ जाती, आगे चलकर इसका कारण खोज निकाला गया और कहा गया कि उस पार महेवा में ससुराल होने के कारण तुलसी को यहाँ बसना पड़ा। महेवा से तुलसी का नाता कब और कैसे जुटा, इसका पता नहीं।

ग्रियर्सन की देन

हाँ, तो सं० १९३३ तक तुलसी की खोज यहाँ तक पहुँच चुकी थी कि भारत में श्री ग्रियर्सन साहिब का पदार्पण हुआ और उनकी कलम ने वह काम किया जो किसी की कलम वा करवाल से न हो सका। लीजिए लेखा डा० माताप्रसाद गुप्त जी का है—

६. यशस्वी स्वर्गीय सर जार्ज ए० ग्रियर्सन की सेवाओं की इस क्षेत्र में तुलना नहीं हो सकती। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से आप ने ही हमारे महाकवि के जीवन और रचनाओं के संबंध में पहले-पहल अनुसंधान

किया, और यह दुःख का विषय है कि उस दृष्टिकोण का परिचय पीछे आने वाले विद्वानों ने नहीं दिया। इस दिशा में आप ने पहला उल्लेख-योग्य प्रयास सं० १९४२ में किया, जब वेन की अंतर्राष्ट्रीय ओरियंटल कांग्रेस के सामने आप ने 'हिंदुस्तान का मध्यकालीन साहित्य, विशेष रूप से तुलसीदास' विषयक अपना सारगर्भित निबंध पढ़ा। इस लेख में आपने हमारे कवि के जीवन, उसकी कृतियों और विचारों पर पर्याप्त नया प्रकाश डाला। पीछे सं० १९४६ में प्रकाशित होने वाले अपने 'मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑव हिंदोस्तान' नामक ग्रंथ में कवि के विषय में जो सूचना आप ने दी वह बहुत कुछ इसी निबंध का रिप्रिंट है। सं० १९५० में 'इंडियन ऐंटीक्वेरी' में आप के 'नोट्स ऑन तुलसी-दास' प्रकाशित हुए, जो इस क्षेत्र में आप की उज्ज्वल कीर्ति के स्तंभ हुए। इन 'नोट्स' का पहला अंश कवि की तिथियों की गणना से संबंध रखता है। गणना परिश्रम-पूर्वक ज्योतिष के मान्य सिद्धान्तों के अनु-सार की गई है। दूसरा अंश कवि की कृतियों से संबंध रखता है। इसमें पहले कवि की कृतियों की प्रामाणिकता पर विचार किया गया है, जिसमें छः छोटे और छः बड़े ग्रंथों को कवि की रचना माना गया है, और शेष उनकी रचना कहे जाने वाले ग्रंथों को अस्वीकृत किया गया है। इसके अनंतर कृतियों का सविस्तर अलग-अलग परिचय दिया गया है। तीसरे खंड में कवि के जीवन-वृत्त से संबंध रखनेवाली परंपराओं और जनश्रुतियों का संग्रह है। अंत में आपने सुधाकर द्विवेदी जी तथा बाबू रामदीन सिंह के प्रति आभार प्रदर्शित किया है, जिनकी सहायता से आपने यह 'नोट्स' प्रस्तुत किए हैं। इस अन्वेषण की जितनी प्रशंसा की जाय कम है। अब से कुछ पूर्व तक इतनी वैज्ञानिक रीति से हिंदी के किसी कवि अथवा लेखक के संबंध में अन्वेषण किया गया था, ऐसा मेरे ध्यान में नहीं है।

[तुलसीदास, तृ० सं०, पृष्ठ ३]

प्रशंसा की अति नहीं तो भी भूलना न होगा कि उसमें कुछ कूट भी है। कारण कि श्री शिवनन्दन

कूट का उदय

सहाय जी इसी पत्र के 'पृ० ५३ की टिप्पणी, को लक्ष्य करके लिखते हैं उसके तीन दोहों के संबंध में—

उनमें इनकी माता, पिता, गुरु, पुत्र, पत्नी, श्वसुर सब के नाम वर्णित हुए हैं। परंतु वे किस ग्रंथ के या किसके रचे दोहे हैं यह बात आपने नहीं लिखी है। कवि कृत ग्रंथों में तो वे दोहे अवश्य नहीं देखे जाते। हम उन दोहों को नीचे उद्धृत कर देते हैं—

दूबे आतमाराम है, पिता नाम जग जान।
माता हुलसी कहत सब, तुलसी के सुन कान॥
प्रहलाद उधारन नाम है, गुरु का सुनिए साध।
प्रगट नाम नहीं कहत जो, कहत होय अपराध॥
दीनबंधु पाठक कहत, ससुर नाम सब कोइ।
रत्नावलि तिय नाम है, सुत तारक गत होइ॥

इन नामों की सत्यता में हम, चाहे कोई अन्य व्यक्ति, शंका करें, किंतु इस बात में सभी सहमत होंगे कि आप की माता निस्सन्देह वरन् धन्य और पुण्यवती थीं जिनके उदर से ऐसे महान् महात्मा का जन्म हुआ जिनकी रचनाएँ इस अधर्म-परायण समय में भी लाखों मनुष्यों को सदाचारी, जगहितकारी, भक्तिव्रतधारी बना रही हैं।

[श्री गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ १२]

श्री ग्रियर्सन के कूट रूप से हम अनभिज्ञ नहीं। भाषा के क्षेत्र में उसकी चर्चा हम पर्याप्त कर चुके हैं। यहाँ इतना और भी जान लीजिए कि यही उद्देश्य उनका साहित्य के क्षेत्र में भी है। ध्यान से पढ़िए और कलेजा थाम कर कह तो दीजिए कि इस 'जग-

जानी' बात का पता ग्रियर्सन के अतिरिक्त किसको था। किसी भी प्राणी का नाम बता तो दीजिए।

जी। यह भी एक ग्रियर्सनी माया है जो इस देश में आज भी फल-फूल रही है। इसको लेकर आज तक तुलसी के जीवन के संबंध में कितने जाल हुए हैं इसे कौन कहे ? अभी तो काम जारी है न ? फिर चिन्ता क्या ? स्मरण है न ? तुलसी गुरु का नाम लेना अपराध समझते हैं और संकेत से 'प्रह्लाद उधारन' बता जाते हैं। ठीक ही करते हैं। भला कोई गुरु का नाम लेता है ? भूले-भटके काव्य में 'कृपासिंधु नर रूप हरि' अथवा 'नरहरि प्रगट किए प्रह्लादा' आ गया तो कोई बात नहीं। मानस-पाठ में दोष क्या ? किंतु क्या तुलसी के देश में पत्नी का नाम लेना पुण्य था जो उसका उल्लेख हो गया ? अद्भुत ! रहस्य !!

जंजाल की बाढ़

तो भी इतना तो मानना ही होगा कि वास्तव में उक्त दोहा-त्रयी का आधार है अध्यात्म। उसके सभी नाम प्रतीकात्मक प्रतीत होते हैं। उनके आध्यात्मिक पक्ष की उपेक्षा कर उनको लौकिक अर्थ में ग्रहण करना प्रपंच को महत्त्व देना है। फिर भी किया गया ऐसा ही और फिर तो तुलसी के परिवार पर परिवार निकलने लगे। कागद्-कलम की कृपा से सब कुछ सध गया। किंतु बुद्धि की कमी, विवेक के अभाव और ज्ञान की भ्रांति के कारण बहुतों का परदा भी खुलता गया, खुल गया, और जो खुलने से रह गया सो भी प्रतिदिन खुलने की ओर ही बढ़ रहा है। अतः हमें उसकी चिन्ता नहीं। हमारा कहना तो यह है कि अब इस कला से मुक्त हो कुछ तथ्य का पता लेना चाहिए और समझ रखना यह कि तुलसीदास के घर-घाट का पता बताना खेल नहीं।

उनके समय की उनकी जीवनी कभी उपलब्ध होगी, इसमें भी पूरा संदेह है। तो भी व्यापार आज इसी का चल रहा है और न जाने देश के कितने प्राणी इसी धंधे में लीन हैं।

तुलसी के खोजियों में वैसे तो एक से एक बढ़कर निष्णात निकले किंतु सच पूछिए तो सचमुच साहस का हाथ दिखाया उनमें से स्व० बाबू इंद्रदेव नारायण जी ने। इतर तो उनके पीछे आए और समुदाय बना कर भी पीछे ही रह गए। आप के परिचय में इससे अधिक और क्या कहा जाय कि आप 'मानस-भक्त' और सत्संगी थे? इसी नाते तुलसी के विषय में कुछ भी कह जाने का आप को अधिकार था! जीवन रेलगाड़ी के इंजीनियर की क्लर्की में बीता था। इसी धंधे में कभी बलरामपुर में रहे थे। शेष वार्ता यह है कि–

इंद्रदेवनारायण

मानस-मयंक का तिलक बाबू इन्द्रदेव नारायण रचित मुद्रित है, परंतु दुःख है कि तिलककार से जैसी टीका उसकी होनी चाहिए वैसी नहीं हुई। इसका कारण कि ये मानस गुरु-परंपरागत अर्थ प्राप्त नहीं किया था। सांकेतिक मयंकादि की रचना का यथार्थ अर्थ भावादि नहीं जानने के कारण जैसा समझ में आया वैसा ही अर्थ लिखा। इसी से समालोचकों को मयंककार के ऊपर आलोचना करने का मौका मिला।

बाबू इन्द्रदेव नारायण और कोदवराम जी एक ही ग्राम के निवासी थे। इसी कारण उनके मुख से जहाँ तहाँ का अर्थ सुना था तथा श्री रामलाल मिश्र जी बलरामपुर महाराज के कोतवाल, जो पं० जानकी प्रसाद जी के द्वारा मानस का अर्थ भावादि प्राप्त किए थे कुछ उनकी सहायता भी ली और पं० जानकीप्रसाद जी कृत मानस अभिप्राय दीपक

बालकांड की प्रज्वालिनी टीका के आधार पर अभिप्राय दीपक बालकांड तथा अवधकांड का तिलक कर मुम्बई वेंकटेश्वर प्रेसाध्यक्ष को छापने का अधिकार दिया। उसी प्रेस से छप कर प्रकाशित है। जैसी दशा मयंक के तिलक की है वही दशा दीपक के तिलक की है। तिस पर भी यदि सातो कांडों की टीका रहती तो किसी प्रकार संतोष भी किया जाता। परंतु शेष पाँच कांडों की टीका करने में वे असमर्थ थे। यदि सामर्थ रखते तो दो ही कांड पर तिलक क्यों करते। बहुत दिनों की बात है। केतने सज्जन महाशय (महात्मा बालकराम विनायक, श्री बिन्दु ब्रह्मचारी आदि) ने मुझ से आग्रह किया था कि आपको बाबू इन्द्रदेव नारायण से विशेष घनिष्ठता है। उनसे शेष अभिप्राय दीपक पांच कांडों पर तिलक करवाइए नहीं तो पाठक जी की कीर्ति नष्ट हो जायगी। उन पांचों कांडों में से एक दोहा का भी अर्थ निज पांडित्य शक्ति से कोई नहीं लगा सकता है। १९४० (?) ई० में मेरी कथा केसरिया में हुई जहाँ बाबू इन्द्रदेव नारायण का मकान है। उस समय मैंने उनसे दीपक पर तिलक करने के लिए बहुत अनुरोध किया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि आप संत हैं। आपसे मैं छिपा नहीं सकता। यदि मुझे शक्ति रहती तो दो ही कांड का तिलक कर क्यों छोड़ देता। वह भी दो कांडों का तिलक स्वयं नहीं किया हूँ। बालकांड का तिलक तो 'प्रज्वालिनी' जो विस्तार है उसका सूक्ष्म किया हूँ। हाँ, अयोध्या कांड में कैक विद्वानों के मदद से जेन केन प्रकार से लिख दिया हूँ।

शेष कांडों का कुछ भी अर्थ नहीं लगता है। मुझे आशा है कि आप यदि परिश्रम करेंगे तो उत्तम प्रकार से तिलक करेंगे क्योंकि आप मानस गुरु-परंपरागत व्यास हैं। उसके थोड़े दिनों के पश्चात् बाबू साहिब स्वर्गवासी हुए।

[श्रीमानस-अभिप्राय-दीपक सटीक, भूमिका, पृष्ठ ३-४]

महात्मा श्री जानकीशरण जी (स्नेहलता) के इस स्पष्टीकरण के पश्चात् कदाचित् उस 'तुलसी-चरित' के विषय में कुछ और कहने की आवश्यकता नहीं रही जो 'महाभारत से कम नहीं' और जिसकी 'कविता श्रीरामचरित-मानस के टक्कर की है'। कारण यह कि उसका पता भी केवल इसी बाबू इंद्रदेव नारायण जी को है। कुशल कहिए कि उसका प्राकट्य भी अंश मात्र ही हुआ। नहीं तो उसकी छान-बीन में ही हिन्दी का सारा भेजा निकल जाता। फिर कोई उसकी परीक्षा क्या करता ? ज्येष्ठ सं० १९६९ की 'मर्यादा' धन्य हुई जिसमें इसका अद्भुत प्राकट्य हुआ। प्रतीत होता है बाबू साहब ने बलरामपुर के किसी सरयूपारीण ब्राह्मण का चित्र खींचा है अपनी उक्त विद्या के अनुसार। तो भी इस 'तुलसी-चरित' का इतिहास है बड़ा रोचक। बाबू शिवनन्दन सहाय जी लिखते हैं—

तुलसी-चरित

हमें अपने एक मित्र जिला मोजफ्फरपुर नंदबारा ग्राम निवासी बाबू नरेन्द्रनारायण सिंह जी से ज्ञात हुआ है कि गोस्वामी जी के जीवनकाल ही में उनके एक चेले ने उनके निषेध करने पर भी उनकी पद्यबद्ध बृहद् जीवनी कोई एक लाख दोहे चौपाइयों में तयार की थी। गोसाईं जी ने इसका हाल जान कर लेखक को यह कह कर वैसा करने से निषेध किया कि ईश्वर का गुणानुवाद छोड़ कर मनुष्य का चरित्र लिखना ठीक नहीं, पर उन्होंने उनकी बात न मानी। इस पर कुपित हो कर शाप दे दिया कि उक्त पुस्तक का प्रचार नहीं होगा। वह चेला मनस्ताप से अत्यंत पीड़ित हो श्री नाभा जी या किसी अन्य महापुरुष के शरणापन्न हुआ और उनके आग्रह तथा प्रार्थना से गोस्वामी जी ने सं० १९६७ के अंत में शापमोचन का वचन दिया। और यह प्रश्न उठने पर तनेइ कि दिनों तक उस हस्तलिखित पुस्तक की रक्षा कौन

करेगा, वह काम इसी प्रेत को सौंपा गया। यह बात शायद उसी पुस्तक में लिखी है। वह पुस्तक भुट्टान राज्य में किसी ब्राह्मण के घर में पड़ी रही। बलरामपुर (गोंडा) के एक मुंशी जी उस बाबा जी के घर उसके बालकों को शिक्षा देने पर नियुक्त हुए। उन्हीं बालकों के वह पुस्तक देखाने पर उन्होंने धीरे धीरे कैथी में उसकी नकल उतार डाली। यह बात प्रगट होने पर जब वह ब्राह्मण महाक्रोधित हो कर उनका प्राण लेने पर उद्यत हुआ तब वे वहाँ से चम्पत हुए। उनसे वह पुस्तक बलरामपुर के किसी कर्मचारी को मिली। उनसे वह अलवर राज के गुरु स्वामी हंस-स्वरूप जी को मिली। और अब वह पुस्तक केसरिया (चम्पारन) निवासी बाबू इन्द्रदेव नारायण के घर है।

[श्री गोस्वामी तुलसीदास जी, पादटिप्पणी, पृ० ४२-३]

फिर भी उक्त बाबू साहब ने उसका पूरा प्राकट्य न कर कैसा पुण्य कमाया, इसको स्वयं समझना चाहिए और देखना यह कि कहीं आज भी इसी परंपरा का पालन 'सोरों' भी तो नहीं कर रहा है। उसकी प्राप्त सामग्री का इतिहास पूरा नहीं। अधूरा नहीं। परंतु जो है इसकी हरी छाया में आँख खोलने को पर्याप्त है।

मूल गोसाईं-चरित

बाबू इंद्रदेव नारायण के 'तुलसी-चरित' के अंश मात्र के प्रकाशन से चरित्री धारा को बल मिला और उसने देख लिया कि जब इस सर्वथा गढंत चरित को इतना महत्त्व मिल सकता है तब 'चरित्र' का ग्रियर्सनीकरण अवश्य ही सफल होगा और लोग तुलसीदास के इस परंपरागत जीवन को अवश्य पसंद करेंगे। फलतः उसका निर्माण भी हो गया और वह 'मूल गोसाईं चरित' के रूप में यत्र-तत्र गोचर हो गया। उसका जो स्वागत आरंभ में हुआ आज नहीं है। फिर भी यह तो मानना ही होगा

कि उसका प्रणेता तुलसी का जानकार है। तथ्य की दृष्टि से कहा जा सकता है कि वस्तुतः वह भवानीदास के उक्त चरित्र का ही आधुनिक संक्षिप्त संस्करण है। संस्कार सन्-संवत् की दृष्टि से किया गया है, पर असावधानी के कारण कुछ भ्रांतियों का शिकार भी बन जाना पड़ा है। उसके संबंध में निवेदन इतना भर कर देना है कि उसको महत्त्व देने की आवश्यकता नहीं। हाँ, उससे अलग रह उस 'चरित्र' के परिशीलन की आवश्यकता अवश्य है जिसकी रचना भवानीदास ने की है और जो कभी कभी बैजनाथदास कृत भी कहा गया है। इसमें चमत्कार के पीछे जो इतिहास भरा है उसको पढ़ने का समय आ गया है न कि किसी महंत को कुछ गढंत करने का अवसर। निश्चय ही इस 'मूल गोसाईं चरित' में जो सत्य है वह उक्त 'चरित्र' में भी है और जो असत्य है उसका मोह क्यों ? उसमें तुलसी का 'हित' कहाँ ? छाया फिर जिसकी हो।

जी। तुलसी की खोज को अद्भुत रूप मिला श्री रामनरेश त्रिपाठी के 'मानस' से। उसकी टीका और भूमिका का जैसा कुछ स्वागत हुआ उससे आहत हो आपने अपना अभिमत दिया—

टिमटिमाते दिये

जान पड़ता है, अभी हिंदी में ठोस काम करने वालों का समय नहीं आया है। साहित्य में एक अंधड़-सा चल रहा है, और साहित्य-पथ के पथिक अंधकार में उद्दिष्ट रास्ते की खोज करते हुए आकुल-व्याकुल की तरह चारों ओर दौड़ रहे हैं। उनके लिये मैं अपने कुछ छोटे-छोटे दिये रास्ते के किनारों पर टिमटिमाते हुए छोड़े जाता हूँ। संभव है, कभी उनकी दृष्टि इन पर पड़े और वे इनको हाथ में लेकर साहित्य का राज-मार्ग खोज निकालने में समर्थ हों। मेरी आन्तरिक

कामना है, कि तुलसीदास को सांप्रदायिकता के घेरे से निकाल कर मनुष्य-मात्र के हाथों में पहुँचने दिया जाय।

[तुलसीदास और उनकी कविता, पहला भाग, प्रस्तावना पृष्ठ ४-५]

कहा ही नहीं। आपने स्वयं भी एक ऐसे 'दिये' से काम भी लिया है। लिखते हैं—

बहुत दिनों से मेरे मन में इस बात की शंका उठ रही थी कि संभव है, तुलसीदास का जन्म-स्थान सूकरखेत ही हो। इससे वहाँ चल कर पता लगाना चाहिए। संयोग से विगत वर्ष टीकमगढ़ से 'बुन्देल वैभव' नाम की एक पुस्तक प्रकाशित हुई। उसमें भी 'वार्ता' के आधार पर तुलसीदास का जन्म-स्थान सोरों प्रमाणित करने का प्रयत्न किया गया देख कर मेरी धारणा को और भी प्रोत्साहन मिला और मैं आक्टोबर, १९३५ के पहले सप्ताह में तुलसीदास की जीवनी की खोज में घर से निकल ही पड़ा। भिन्न-भिन्न स्थानों में होता हुआ ता० २१ आक्टोबर को मैं सोरों पहुँचा।

[वही, पृष्ठ ६३-४]

'सोरों में पहुँच कर आपने जो कुछ पढ़ा उसका परिणाम यह चक्डोरि हुआ कि आप को लिखना पड़ा—

चक्डोरि—

खेलत अवध खोरि, गोली भँवरा चकडोरि।

[गीतावली]

ब्रज और उसके आसपास के जिलों में भौंरा और चकडोरी खेलने का रिवाज बहुत है। लड़के बाजी लगा कर यह खेल खेलते हैं। पर अयोध्या, बनारस और राजापुर में इस खेल का प्रचार शायद ही है। सोरों में इसका बड़ा प्रचार है। इससे यह अनुमान किया जा सकता

कर डाला। हम उनकी आलोचना में क्यों उलझें जब हम भली-भाँति जानते हैं कि उनका अध्ययन यथार्थ नहीं।

हाँ, भाषा के आधार पर जो लोग तुलसी के घर का पता लगाने निकलते हैं उनको पहले कुछ भाषा-शास्त्र का अध्ययन कर लेना चाहिए और फिर अपने यहाँ की भाषा-परंपरा को भली भाँति समझ कर तब इस क्षेत्र में पाँव रखना चाहिए। अन्यथा किसी भी कवि के किसी भी शब्द को अपने गाँव-घर में सुनकर उसकी व्याप्ति और जानकारी के अभाव में यह कह बैठना कितना आसान है कि अरे! यह तो सचमुच यहीं का निवासी है जो इस शब्द का ऐसा व्यवहार कर रहा है। कौन नहीं जानता कि 'पूरब' में 'पश्चिम' की भाषा का बराबर व्यवहार रहा है और 'पच्छिम' के लोग बाहर से दबाव पड़ने पर 'पूरब' की ओर बराबर बढ़ते रहे हैं? हाँ, अँगरेजी शासन भी इससे बरी नहीं रहा है। मारवाड़ी कहाँ नहीं गया? बंगाली कहीं गया भी तो वहाँ दस के बीच नहीं बसा। उसके साथ उसका 'इष्ट' रहा और रही उसकी जीविका या नौकरी। तात्पर्य यह कि तुलसी को 'पश्चिम' के शब्द तो काव्य से मिल सकते हैं और मिल सकते हैं व्यवहार से भी; परंतु 'पूरब' के शब्द तो पश्चिम को सत्संग और वहाँ के निवास से ही मिल सकते हैं न? फिर इस तथ्य की उपेक्षा क्यों? 'पश्चिमी हिंदी' के क्षेत्र के किसी कवि ने कभी 'पूर्वी हिंदी' में कोई रचना की है? सब का सार यह निकला कि अपने आस-पास के शब्द को तुलसी में देख कर उनको अपने आस-पास का समझ लेना ठीक नहीं। ठीक है पहले उस शब्द की व्याप्ति पर विचार करना और जान लेना उसके इतिहास को। और तब फिर यह देखना कि उसके प्रति कवि का लगाव क्या है। कवि के हृदय में उसका

भाषा की पकड़

वास क्यों है और क्यों वह उक्त अवसर पर उसका व्यवहार कर रहा है आदि बातों को जाने बिना कोई भी प्राणी बुद्धि और विवेक की आँख से देखते हुए सहसा यह नहीं कह सकता कि अमुक स्थान पर यह शब्द बोला जाता है और यह शब्द अमुक कवि में पाया जाता है इसलिए अमुक कवि अमुक स्थान ही का है। इसके लिए उसे यह भी बताना ही होगा कि अमुक शब्द अमुक अर्थ में अमुक स्थान पर ही बोला जाता है और उस समय भी बोला जाता था जब अमुक आलोच्य कवि रचना में लीन था। अन्यथा उसकी उड़ान का कोई महत्त्व नहीं। भाषा का पात्रगत प्रयोग तो और भी संकट में डाल देता है। इतने पर भी आप सचेत प्राणी के 'स्थान' के विषय में कुछ कह सकते हैं न कि उसके जन्म-स्थान के विषय में। अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं। महाप्रभु वल्लभाचार्य के जन्म-स्थान का पता उनकी भाषा के आधार पर कौन बता सकता है और कौन बता सकता है उनके पुत्र गोस्वामी बिट्ठलनाथ के जन्मस्थान का पता उनके शब्दों को सूँघ कर ? निवेदन यह कि इस अत्यन्त कठिन और दुस्तर कार्य को इतना सस्ता और हल्का नहीं बना देना चाहिए। इसे पहुँचे हुए सिद्ध भाषाशास्त्रियों के लिए ही छोड़ देना चाहिए। अन्यथा वही 'चकडोरि' की स्थिति होगी। देखिए न, उधर राजापुर के राम-बहोरी शुक्ल जी लिखते हैं–

मुझे आश्चर्य है कि जिस व्यक्ति ने, स्वयं मुझ से मेरे मकान में, एक दूसरे काम के लिए पधारने पर संभवतः अक्टूबर सन् १९३६ में, राजापुर की चर्चा चलाने पर, कहा था कि मैं वहाँ नहीं गया, वह वहाँ के विषय में ऐसी बात कैसे कह सकता है। हम लोग वहाँ इस खेल को अपने लड़कपन में खेल चुके हैं, आज भी वहाँ लड़कों को खेलते देखते हैं।

[वीणा, वैशाख १९९५, पृष्ठ ५४८ टिप्पणी]

यह तो रही प्रत्यक्ष की स्थिति । [आँख-देखी बात की यह गति तो परोक्ष की चर्चा ही क्या ? अनदेखी बात की दौड़ तो औरभी निराली है न ? आप लिखते हैं–

अद्‌भुत तर्क

तोसे माय जायो को ।

[विनय-पत्रिका]

'तेरे जैसा माँ से उत्पन्न और कौन है ?' यह शब्द व्रज और मारवाड़ में आमतौर से प्रचलित है । पर राजापुर में यह इसी रूप में नहीं बोला जाता ।

[तुलसीदास और उनकी कविता, पहला भाग, पृष्ठ १००]

श्री त्रिपाठी जी जो कुछ कहते हैं सत्य कहते हैं । मान लीजिए कि सचमुच 'राजापुर' के लोग ऐसा नहीं बोलते । तो इससे हुआ क्या ? राजापुर की बोली में 'विनय-पत्रिका' की रचना हुई होती तो उसमें यह दोष निकाला जा सकता था । किंतु जब 'व्रजभाषा' में उसकी रचना मानी जाती है तब उसमें किसी ठेठ राजापुरी शब्द का न आना कोई दोष कैसे हो गया जो आपने ऐसा लिख दिया ? सच तो यह है कि आप ने 'सोरों' और 'राजापुर' का वाद खड़ा कर सोरों को जिताने का बीड़ा उठा लिया है कुछ तुलसी में प्रवेश पाने का नहीं । क्यों ?

जी । 'स्वराज्य' की बढ़ती हुई चेतना के साथ 'तुलसी' का नाता जो कुछ जुटा हो उससे अभी प्रयोजन क्या ? देखना तो अभी यह है कि वास्तव में यह राजापुर-सोरों-द्वन्द्व है कैसा ? सो सोरों के समर्थ संपादक श्री रामदत्त भारद्वाज का अमर्ष है—

सोरों की समझ

सोरों-सामग्री के प्रति हिन्दी साहित्य सम्मेलन का व्यवहार नितान्त अनुचित और नागरी प्रचारिणी सभा काशी का अत्यन्त उपेक्षा-पूर्ण रहा है। 'तुलसी चर्चा' पर श्री रामनिधि शर्मा की जो आलोचना सम्मेलन-पत्रिका में छपी थी उससे अकारण पक्षपात स्पष्ट है। सम्मेलन को यह कहने में आनन्द आता रहा कि सोरों-सामग्री जाली है। यदि तर्क के लिये 'सम्मेलन' की बात पर विश्वास कर लिया जाय तब भी ऐसा साहित्य बच रहता है जिसका संबंध सोरों से तो नहीं, किंतु जो सोरों-मत की पुष्टि अवश्य करता है। 'सम्मेलन' कब तक गाली देगा? किस-किस को गाली देगा? वह स्वयं थक कर बैठ जायगा। सत्य स्वयं प्रकाशित होता है। 'ब्लैक होल' जैसे मिथ्याडम्बर बन कर नष्ट हो जाते हैं। अनेक प्राचीन टीकाएँ हैं, जिनमें तुलसीदास के जीवन-चरित्र का उल्लेख किया गया है, उनसे सोरों-मत की पुष्टि मिलती है। 'वैष्णवों की वार्ताएँ' 'अष्टसखामृत', 'श्री गोसाईं जी के सेवक चारि अष्टछापी तिनकी वार्ता' (१६९७ वि०) इन्हें भी यदि झूठा कहा जाय तो स्यात् राजापुर-मत को बल प्राप्त हो सके। किंतु १८९३ ई० में सर जार्ज ग्रियर्सन ने तुलसीदास पर जो 'नोट्स' छपवाए वे उत्तरप्रदेश के पूर्वी जिलों की जनश्रुतियों के आधार पर थे। वे भी सोरों-मत की पुष्टि करते हैं और राजापुर संबंधी तथाकथित साहित्य के प्रतिकूल पड़ते हैं। विशेष विवरण के लिये देखिए मेरे लेख (१) तुलसी जन्मस्थान संबंधी सोरों सामग्री के अतिरिक्त अन्य साक्ष्य, व्रजभारती २००९। (२) माता हुलसी का जन्मस्थान : तारी (सरस्वती)। राजापुर का गजटियर और राजापुर-संबंधी वाजिबुल अर्ज की अर्ज भी सोरों के अनु-कूल पड़ती है, और राजापुर के बड़े-बूढ़े का मत भी राजापुर के विपक्ष में है जैसा कि एडविन ग्रीव्ज और शिवनन्दन सहाय लिख चुके हैं। अतः सोरों-सामग्री का प्राबल्य तो उसे गालियां देने से भी कम नहीं हो जाता।

[नवीन भारत, २४ दिसंबर, १९५३]

कहीं अच्छा होता यदि डा० रामदत्त भारद्वाज जी यह बताने की कृपा करते कि 'सोरों का गजटियर और सोरों-संबंधी वाजिबुल अर्ज की अर्ज भी सोरों के अनुकूल पड़ती है' वा नहीं। पता नहीं 'राजापुर का गजटियर' यदि 'राजापुर' के लिये प्रमाण है तो 'सोरों का गजटियर' सोरों के लिये प्रमाण क्यों नहीं? यही बात 'वाजिबुल अर्ज की अर्ज' की भी है। राजापुर की वाजिबुल अर्ज की अर्ज है कि 'माफीदारान चेला गो० तुलसीदास की सन्तानें छै सै अठासी रुपया चौदह आना हकूक पाते हैं।' किंतु 'सोरों की वाजिबुल अर्ज की अर्ज' क्या है पहले इसे तो देख लेने का कष्ट करें। उसके अभाव में सोरों में तुलसी का घर-द्वार कैसा? रहा सोरों का गजटियर। सो उसमें तो कहीं तुलसीदास का नाम तक नहीं दिखाई देता। हाँ, उलटे सिद्ध यह अवश्य किया जाता है उसमें कि वहाँ का प्रसिद्ध सीता-राम जी का मंदिर अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में था ही नहीं जो उसे औरंगजेब तोड़ता। सोरों की सारी सामग्री पर पानी फेरने के लिए इतना पर्याप्त है। हम सोरों से सोरों के पक्ष का सरकारी प्रमाण चाहते हैं और मानते हैं कि राजापुर की जनश्रुति सूकरखेत (घाघरा-सरयू-संगम) के पक्ष की थी जिसे भ्रांति वा नीतिवश सोरों के सिर मढ़ दिया गया। स्मरण रहे, गजेटियर में यही कहा गया है कि संत तुलसी 'सोरों' से आया था कुछ यह नहीं कि वहीं वह जन्मा था। उसकी स्पष्ट शब्दावली है—

सोरों का सरकारी पक्ष

ए रेजिडेंट ऑव सोरों इन कासगंज तहसील आव द एटा डिस्ट्रिक्ट।

यहीं यह भी स्मृति में बना रहे कि इसका आरंभ होता है—

इट इज सेड दैट इन द रेन ऑव अकबर ए होली मैन नेम्ड तुलसीदास

यहाँ भी प्रवाद का आधार नहीं दिया गया है। हाँ, आगे चल कर इतना अवश्य कहा गया है—

दिस इज़ ऑव कोर्स तुलसीदास, दी ऑथर ऑव द रामायन

कहने का तात्पर्य यह कि जनश्रुति की व्याख्या गजेटियरकार ने अपने ज्ञानानुसार की है जिसे खरी कसौटी पर कसे बिना सिद्ध समझना भारी भूल है।

साहित्य का ब्लैक होल

अस्तु, 'वार्ता' और 'ग्रियर्सन' के विषय में नये सिरे से कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। उनके प्रसंग में जितना कह दिया गया है इस अवसर के लिये पर्याप्त है। हाँ, अति संक्षेप वा सूत्ररूप में इतना निवेदन कर देने का अवसर आ गया है कि वस्तुतः 'ग्रियर्सन' के सोरवींकरण का नाम ही सोरों-सामग्री है। उसका 'ब्लैकहोल' से कुछ नाता भी हो तो आश्चर्य क्या? क्या उक्त कूटनीति का क्षेत्र भाषा और साहित्य न था जो 'ग्रियर्सन' और उनके साथियों को सर्वथा दूध का धुला मान लें? कहते हैं—

अँगरेज इतिहासकारों के मतानुसार नवाब ने इनमें से १४६ अँगरेज कैदियों को एक कोठरी में बंद करवा दिया। जून का महीना था। अतः जब प्रातः काल कोठरी खोली गई तो उनमें केवल २३ व्यक्ति ही जीवित पाए गए। शेष गर्मी की अधिकता और हवा की कमी के कारण उस छोटी कोठरी में घुट कर मर गए। यह घटना इतिहास में ब्लैकहोल के नाम से प्रसिद्ध की गई। परन्तु आधुनिक अन्वेषण ने सिद्ध कर दिया है कि इसमें कुछ भी सत्य नहीं है। यह केवल अँगरेजों की मन

गढंत ही थी। वास्तव में इस कपोल-कल्पित कथा का प्रचार अँगरेजों की प्रतिहिंसात्मक मनोवृत्ति को उभाड़ने के लिए ही किया गया था।

[आधुनिक भारत, पृष्ठ ३४-५]

'अन्वेषण' होने दीजिए, फिर देखिए कि क्या सिद्ध हो कर रहता है। राजनीति से तो आप मुक्त हो गए। आप स्वतंत्र हैं। किंतु सच तो कहें, भाषा और भाव की दृष्टि से आप की स्थिति क्या है और सोच कर तो कहें, आज यह सोरों-राजापुर-द्वन्द्व क्या है। क्या कभी किसी कवि वा महात्मा ने भी इनका गुणगान किया है? कलमी कागद चाहे जितने बनें पर वस्तुतः वस्तु-स्थिति यही है। 'राजापुर' का प्रमाण 'सोरों' के पक्ष में है पर 'सोरों' को तुलसीदास का पता नहीं। यदि है तो सरकारी सनद सामने क्यों नहीं आती? सोरों के किस पुराने सरकारी कागद में वहाँ तुलसीदास का घर-बार अंकित है और उसका आधार क्या है? यदि सोरों-सामग्री सच्ची है तो अँगरेजी सरकार सच्ची नहीं। उसने क्यों नहीं 'गजेटियर' में उसे अंकित किया। सोरों के गजेटियर को तुलसीदास का पता नहीं? नंददास का पता नहीं; परंतु सोरों-सामग्री को किस बात का पता नहीं? सभी कुछ तो यहाँ कविता और कागद के टुकड़े से झट सिद्ध हो जाता है न? निश्चय ही सरकारी सोरों के सर्वथा विपरीत है यह कविताई सोरों।

सोरों और राजापुर का द्वन्द्व बताता है कि अँगरेज सफल रहा तुलसी की शक्ति को क्षीण करने में। 'नागरी भाषा' का नाम मिटाया गया जिस नीति से उसी नीति से मिटाया गया तुलसी का जन्म-स्थान भी। आज हम उसे खोज सकते हैं पर पा नहीं सकते, मूँड चाहे जितना मारें! हम लक्ष्यभ्रष्ट जो हो गए हैं। फिर

सरकारी नीति

भी तुलसी तुलसी है। उसकी रामनीति को राजनीति का भय नहीं। और उसके राम का उद्घोष है—

जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तर दिसि वह सरऊ पावनि।

वही 'सरयू' जिसको आप 'घाघरा' के सामने भूल चुके हैं। देखिए न, अवधवासी, तुलसीभक्त, लाला सीताराम जी लिखते हैं-

भक्तलोग सरयू को मानस-नन्दिनी और वसिष्ठ-कन्या कहते हैं। मानस-नन्दिनी से यह अभिप्राय है कि यह नदी मानस सरोवर से निकली है और वसिष्ठ-नन्दिनी का अर्थ यह है कि महर्षि वसिष्ठ जी की तपस्या से इसका प्रादुर्भाव हुआ है। वसिष्ठ सूर्य-वंश गुरु के थे। इस कारण वसिष्ठ-कन्या की महिमा भगीरथ-कन्या (गंगा) से बढ़ कर है।

[अयोध्या का इतिहास, पृष्ठ १०]

शिक्षा की सरयू

यह तुलसी की 'सरयू' का वर्णन रहा। अब सरकारी शिक्षा की सरयू का पाठ पढ़िए—

अवध प्रांत में यह नदी नैपाल से निकल कर बहराइच में आती है। अल्मोड़े में इसे सरयू ही कहते हैं। बहराइच में तीस कोस बह कर कौड़ियाला से मिल जाती है। परन्तु इस बात का प्रमाण मिला है कि सरयू पहिले कौड़ियाला से भिन्न धारा में बहती हुई घाघरा में गिरती थी। कहते हैं कि एक अँगरेज ने जो लट्ठों का व्यापार करता था, सरयू की धारा को टेढ़ी मेढ़ी देखकर उसे कौड़ियाला में मिला दिया। पुरानी धारा अब भी छोटी सरयू के नाम से प्रसिद्ध है और बहराइच से एक मील हटकर बहती है और बहराइच से निकल कर गोंडा जिले में घाघरा में गिरती है। इस संगम का वर्णन आगे किया जायगा।

[वही, पृ० ११]

आगे की बात यहीं सामने आ जाय तो अच्छा। सो यही संगम तुलसी का, 'कथा सो सूकरखेत' का संगम है, स्थान है। यही आगे की बात है। और सामने की यह कि-

सरयू-घाघरा के संगम के बाद यह नदी घाघरा ही के नाम से प्रसिद्ध है; केवल अयोध्या में इसे सरयू कहते हैं।

[वही, पृष्ठ ११]

सच्ची सरयू

किंतु बात ऐसी है नहीं। सरयू का नाम गंगा में मिल कर लुप्त होता है और 'सरजू' तथा 'देवहा' या 'देहवा' के रूप में आज भी साधारण जन-समाज में यह ख्यात है। स्कूली लोग ही इसको 'घाघरा' के नाम से जानते हैं। देवस्वामी की साखी है सर्वथा इसी के पक्ष में। लीजिए-

उत्तर मानस सर से निसरी श्रुति सीता ते सरजू नाम।
परम अवधि परमारथ से मिलि गंग भक्ति में भा विश्राम ॥
रस रस रामरूप सागर से मिलि कै जुदौ रही तेहि ठाम।
देवदृष्टि से यह रहस्य लखि ज्ञानमान तजि भजु सियराम ॥६॥

[अयोध्याबिंदु, पृष्ठ २]

और स्वयं गोस्वामी तुलसीदास का भी तो प्रमाण है-

अस मानस मानस चष चाही। भइ कवि बुद्धि बिमल अवगाही।
भयेउ हृदय आनंद उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रबाहू।
चली सुभग कविता सरिता सो। राम बिमल जस जल भरिता सो।
सरजू नाम सुमंगल मूला। लोक बेद मत मंजुल कूला।
नदी पुनीत सुमानस नंदिनि। कलि मल तिन तरु मूल निकंदिनि।
श्रोता त्रिविध समाज पुर ग्राम नगर दुहुँ कूल।
संत सभा अनुपम अवध सकल सुमंगल मूल ॥ ३९ ॥

रामभगति सुरसरितहि जाई। मिली सुकीरति सरजु सुहाई।
सानुज राम समर जनु पावन। मिलेउ महानदु सोन सुहावन।
जुग बिच भगति देवधुनि धारा। सोहति सहित सुबिरति बिचारा।
त्रिविध ताप त्रासक तिमुहानी। राम सरूप सिंधु समुहानी।
मानस मूल मिली सुरसरिही। सुनत सुजन मन पावन करिही।
[रामचरितमानस, प्रथम सोपान]

फिर यदि 'संगम' के आगे 'सरयू' का नाम नहीं चलता है और केवल 'अयोध्या' में ही इसे 'सरयू' कहते हैं का प्रचार किया जाता है तो इसमें दोष किसका ? अँगरेजी व्यापार के लिए 'सरयू' की धारा बदली गई, संगम का महत्त्व घटा, और न जाने क्या क्या और हुआ। सो तो सब कुछ हो लिया। परंतु अब तो उसका अंत होना चाहिए। अब बच्चों को उस 'सरयू' का ज्ञान क्यों नहीं कराया जाता जिसको उनके पूर्वज इसी रूप में जानते आ रहे हैं ? आश्चर्य की बात तो यह है कि बाबर की 'सिरऊ' भी आज अँगरेजी प्रभुता के प्रताप से 'गोगरा' बनी बैठी है और सरयू-गंगा-संगम का संग्राम आज इतिहास में 'सरयू' का संग्राम नहीं 'घाघरा की लड़ाई' कहा जाता है। नाम मिटाने से नाम ही नहीं चलता बहुत सा काम भी आप ही सध जाता है। इसी से 'नाम' के हेतु तुलसी का इतना आग्रह है। 'सरयू' के संबध में कुछ विचार 'कालिदास' में किया गया है अतः यहाँ इतना ही अलं है। आशा है हमारे देश के सयाने शीघ्र सचेत हो इस 'सरयू' का सत्कार करेंगे और इसी को मूल धारा समझेंगे। घाघरा तो इसकी सहायक धारा का नाम है। उसको मुख्य धारा का नाम दे गंगा में मिला देना ठीक नहीं। हाँ, राष्ट्रचेतना का उपहास अवश्य है।

नाम का महत्त्व

जी। स्मरण रहे कि—

सरयू—सरयू नदी का नाम घाघरा और देहवा भी है। यह नदी गुठनी के पास गियासपुर से लेकर गंगा के संगम तक जिले की दक्षिण पच्छिम सीमा का काम करती है। इस जिले में इसकी लंबाई ६० मील है। इसके किनारे रिवीलगंज, दरौली, माझी और डोमैगढ़ आदि मुख्य स्थान हैं। जिले का मुख्य नगर छपरा इसी नदी से कई मील पर ही है। नदी में नावें बराबर चला करती हैं। पटना से अयोध्या तक छोटा स्टीमर चलता है जो मुसाफिरों और मालों को ढोता है। इस नदी में मामूली नावें नेपाल की सीमा तक चली जाती हैं। इस जिले में झरही, खनवाँ और दाहा इसकी सहायक नदियाँ हैं।

[विहार-दर्पण, पृष्ठ ४३६]

श्री गदाधरप्रसाद अंबष्ठ जी ने 'सरयू' का जो परिचय दिया है उसमें 'घाघरा' का नाम भी आ गया है। परंतु क्या अँगरेजी शासन के पहले की कोई साखी किसी के पास है जो सिद्ध कर दे कि 'अयोध्या' के आगे भी इसका नाम 'घाघरा' चलता था? नहीं, ऐसा प्रमाण उपलब्ध कहाँ? निदान राष्ट्रपति राजेंद्र बाबू का ध्यान इधर जाना चाहिए और अपनी संस्कृति की इस पुनीत धारा का नाम 'सरयू' ही प्रमाणित करना चाहिए। कारण यह कि वह, स्वयं ही इसी काँठे के प्राणी होने के नाते, इसे खूब जानते हैं। फिर कर कंगन को आरसी क्या?

सरयू की इस कथा से अब विश्वास हो जाना चाहिए कि 'नाम' का जीवन में बड़ा महत्त्व है और इसी से शासक की कूट दृष्टि भी उस पर बनी रहती है। 'अयोध्या' नाम में जो शक्ति है वह नाम ही में नहीं, उस धाम में भी है। कारण यह कि—

अयोध्या

अयोध्या का नाम सात तीर्थों में सब से पहले आया है—

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका ।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः ॥

कहनेवाले कह सकते हैं कि छंद में अयोध्या का नाम पहिले आना उसके प्रधान का प्रमाण नहीं। परंतु यह ठीक नहीं। एक प्रसिद्ध श्लोक और है जिससे प्रकट होता है कि अयोध्या तीर्थ रूपी विष्णु का मस्तक है—

विष्णोः पादमवन्तिकां गुणवतीं मध्ये च काञ्चीपुरीम्
नाभि द्वारवतीन्तथा च हृदये मायापुरीं पुण्यदाम् ।
ग्रीवामूलमुदाहरन्ति मथुरां नासाञ्च वाराणसीम्
एतद्ब्रह्मविदो वदन्ति मुनयोऽयोध्यापुरीं मस्तकम् ॥

[अयोध्या का इतिहास, पृष्ठ १-२]

'अयोध्यापुरी' को 'मस्तक' यों ही नहीं कहा गया है। इसका संबंध आस्तिक-नास्तिक, ब्रह्मण्य-अब्रह्मण्य सभी से तो है। देखिए न, श्री अवधवासी लाला सीताराम ही इसे भी स्पष्ट कर देते हैं। लिखते हैं—

जैन भावना

इन दिनों भी अयोध्या जैन, धर्मावलंबियों का ऐसा ही तीर्थ है जैसा हिंदुओं का। अध्याय ८ में दिखाया जायगा कि २४ तीर्थंकरों में से २२ इक्ष्वाकुवंशी थे और उनमें से सब से पहिले तीर्थंकर आदिनाथ (ऋषभदेव जी) का और चार और तीर्थंकरों का जन्म यहीं हुआ था।

[वही, पृष्ठ २]

'जैन' की ममता 'अयोध्या' से फिर क्यों न बहुत गहरी होगी ? रहे बौद्ध, सो उनकी भी स्थिति वही है जो अन्य किसी हिंदू हृदय की। गौतम बुद्ध भी तो मूलतः 'इक्ष्वाकु' के ही वंशज थे ? फिर उनके अनुयायी उनकी 'कुलराजधानी' की उपेक्षा कैसे कर सकते हैं ? 'दतून-कुंड' से राम का ही नहीं उनका भी

बौद्ध भाव

संबंध बताया जाता है और यहीं कहीं है वह 'तुलसीचौरा' भी जो 'रामचरितमानस' का और इस जन की दृष्टि में स्वयं तुलसी का भी जन्मस्थान है। कुछ हो, अति विश्वास के साथ कहा गया है—

अवध के एक दूसरे महा पुरुष का भी अयोध्या से घनिष्ठ संबंध रहा है और संसार के इतिहास पर विशेष रूप से अंकित होने से किसी की तुलना हो तो यह पुरुष श्रीराम से भी बड़ा है। शाक्य बुद्ध कपिल-वस्तु के राजकुमार थे जो आजकल के गोरखपूर के पास एक नगर था। और उनका कुल कोशल के सूर्यवंश की एक शाखा था। अयोध्या में उन्होंने अपने धर्म के सिद्धान्त बनाए और अयोध्या ही में बरसात के दिनों में रहा करते थे।

[गार्डन आव इंडिया से 'अयोध्या का इतिहास' पृष्ठ ११७ में अवतरित]

किंतु यह तो बीती बात रही, जीती गाथा यह है कि इसकी महिमा यवनों के मन में भी बस गई और उन्होंने भी किसी प्रकार इससे अपना नाता जोड़ लिया। यहाँ उनको 'खुर्द मक्का' का दर्शन हुआ। कथा लंबी और अप्रिय है। संक्षेप में सुनिए यह कि—

खुर्द मक्का

मुसलमान कहते हैं कि सृष्टि के आरंभ ही से अयोध्या मुसल-मानों के अधिकार में रही। अल्लाहताला ने पहिले आदम को बनाया और जब उन्होंने शैतान के बहकाने से गेहूँ खा लिया और फिरदोस (स्वर्ग) से गिरा दिए गए तो लंकाद्वीप में गिरे जहाँ पर्वत पर उनका तीन गज लंबा चरण चिह्न अब तक दिखाया जाता है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि आदम किस डील-डौल के थे। आदम हज

करने मक्के को जाया करते थे। उनके दो बेटों अयूब (Job) और शीस (Seth) की कबरें अयोध्या में बताई जाती हैं। परंतु सम्राट् अकबर के सुप्रसिद्ध मंत्री अबुल फजल ने इनके विषय में जो कुछ लिखा उसका सारांश यह है—

इस नगर में दो बड़ी कब्रे हैं, एक ६ गज लंबी, दूसरी सात गज की। साधारण लोग कहते हैं कि अयूब और शीस की कब्रें हैं और उनके विषय में विचित्र बातें कहते हैं।

इससे प्रकट है कि अबुलफजल को भी इन कब्रों के दावे पर संदेह था।

अयोध्या में एक स्थान खुर्द (छोटा) मक्का भी है।

थाने के पीछे तूफान वाले नूह की कब्र नव गज लंबी बताई जाती है।

इतिहासज्ञ इन्हें गंजे शहीदां मानते हैं। वास्तव में यहाँ मुसलिम पदार्पण विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ।

[अयोध्या का इतिहास, पृष्ठ १४३–४]

'अयोध्या' का यह रूप तो अँगरेजी शासन के पहले का है। इससे उसका नाता क्या? निवेदन है, यही तो भूल की बात है।

रामराज्य का भय

अँगरेज धीरे धीरे रसता-बसता और सब कुछ करता जा रहा था। वह भली भाँति जानता था कि कहाँ किसमें कितना बल है और उसकी मूल शक्ति कहाँ निहित है। 'राजपूत' पर उसका ध्यान गया नहीं कि उसने झट समझ लिया कि इसका अधिकांश रामभक्त भले ही न हो पर रक्त उसका राम का ही है। यहाँ तक कि मराठाराज्य का मूल पुरुष भी उसी रक्त का अभिमानी है। हिंदू राज्य का आदर्श है 'रामराज्य'। और उस राज्य की राजधानी है

अयोध्या। लौकिक और पारलौकिक दृष्टि से उसका जो महत्त्व है उसका साक्षात्कार करा गया था एक प्राणी जिसे कहते हैं लोग रामानंद। उसकी गति-विधि का यथार्थ पता क्या? पर उसने 'अयोध्या' को महत्त्व दिया इसमें संदेह किसे? उसके भाव चाहे जो रहे हों, पर उससे देश की जो भाषा बनी उसे कौन नहीं जानता? अँगरेज को उसका पता लगा। उसने उसकी शक्ति को समझा पर कहीं जन-समाज में उसको देख न सका। चिंता दूर होने ही को थी कि उसकी दृष्टि में आ गया कोई 'तुलसी'। जिससे वह काँप उठा और समझ समझ कर सोचने लगा कि सचमुच इस देश का भयंकर प्राणी है यह। इसकी वाणी सर्वत्र काम करती है। गोला-बारूद से यह परे है। तो बस इसी पर दृष्टि रखो और इसे कहीं जमने न दो और जमाओ भी तो कहीं ऐसा जमाओ कि 'रामपुरी' से इसका कोई सीधा नाता न रहे और न परंपरा से इसका कोई मोह। बस इसके 'जन्म-स्थान' की खोज लगी और उसी में वह खो सा गया। पता नहीं स्वतंत्र भारत को कभी उसका पता लगेगा भी वा नहीं? परंतु इतना तो निर्विवाद है श्री विलसन साहब ने मुक्त कंठ से स्वीकार किया कि इसके ग्रंथों का प्रभाव एक बड़े हिंदू समुदाय पर समस्त संस्कृत ग्रंथों के सामूहिक प्रभाव से कहीं अधिक है। और गजेटियर भी तो कुछ इसी प्रकार की भाषा में कहता है कि शासन का अंकुश ढीला हुआ नहीं कि फिर अयोध्या की समृद्धि बढ़ी और उसकी इस वृद्धि में कुछ योग था 'रामचरितमानस' की लोकप्रियता का। इतिहास की गहराई में उतरे बिना ही हम सीधी भाषा में कह सकते हैं कि अँगरेज तुलसी से सदा सशंक रहा है और ग्रियर्सन को उसकी भक्ति में जो ईसा का प्रसाद दिखाई दिया है वह कूटनीति से खाली नहीं। उनका उस पर अंत तक अडिग रहना कुछ अर्थ रखता है।

हाँ, तो बस अब एक ही बात और कहने की शेष रही। पता नहीं 'खनवा' की रणभूमि में हिंदू-मुंड की मीनार बना 'गाजी' बननेवाला बादशाह बाबर अपनी जीवनी में उसका उल्लेख क्यों नहीं करता जिसको आज भी 'जन्मस्थान' की 'बाबरी मसजिद' कहते हैं। अपनी 'आत्मकथा' में वह मौन क्या है, सारा मुगल-इतिहास ही इसके विषय में मौन है। उसमें कहीं न तो तुलसी का पता है और न इस मसजिद के इतिहास का उल्लेख। इतना ही नहीं बाबर से कहीं हम यह भी नहीं सुन पाते हैं कि 'सरऊ' और 'घाघरा' के संगम पर अयोध्या से दो-तीन कोस पर रह कर उसने इसलाम का काम क्या किया और फिर अयोध्या से सात-आठ कोस ऊपर जाकर अपने शिकारी दल के साथ 'जमीन शिकारगाह' में क्या क्या किया। क्या इस अवसर पर उसका मौन रह जाना संभव है? २ अपरैल १५२८ के पश्चात् फिर हम १८ सितंबर १५२८ को अयोध्य से दूर उसकी लेखनी का चमत्कार पाते हैं। क्यों? कारण कुछ तो अवश्य होगा ही। तो क्या इसे हम दीर्घ-दर्शी अकबर की नीति का परिणाम समझें जो उक्त अंश का वहाँ से लोप हो गया? अनुमान से काम लेना ठीक नहीं; परंतु सच्ची सूचना के अभाव में खुलकर इतना क्यों न कह दिया जाय कि यह 'शिकारगाह' कहीं 'सूकरखेत' के पास तो नहीं है जो बाबर उधर ही प्रस्थान करता है? स्थिति कुछ भी हो, परिस्थिति पुकार कर कहती है कि राम - धाम के बिना तुलसी की गति नहीं। तुलसी का अध्ययन अभी हुआ ही कहाँ जो हम उसकी सारी बातों को आँख मूँद कर मान लें? और अपनी स्वतंत्र शोध का परिचय क्यों न दें?

बाबर का मौन

अस्तु। 'मुगल' और उसके इतिहास' के सहारे यह तो समझा

नहीं जा सकता कि वास्तव में महात्मा गोस्वामी तुलसीदास का जीवन क्या था और क्या था उनका चरित भी। रहा प्रवाद, लोकवाद अथवा संतमत । सो उनकी भी गति निराली है। 'जनश्रुति' का स्वरूप अँगरेजी-धारा में पड़कर बिगड़ चुका है। उसको प्रति दिन नया-नया रूप भी मिलता जा रहा है। अब वह लोकवाणी नहीं कचहरी की गवाही है जो पक्ष-विपक्ष को दृष्टि में रखकर की जाती है और सत्य की अपेक्षा किसी पक्ष पर ही आश्रित होती है। अतः आज उसका भी कोई अपना महत्त्व नहीं रह गया। विक्रम की बीसवीं शती किंवा गत शत वर्ष की कथित जन-श्रुतियाँ तो अँगरेजी प्रभाव से मुक्त नहीं। उनकी प्रामाणिकता में संदेह अवश्य है। इसके पहले की जहाँ तक शुद्ध मिलें विचारणीय अवश्य हैं। प्रतीत होता है कि अभी अतीत के अध्ययन में हमें उतना रस नहीं मिलता जितना कि मिलना चाहिए। और, और भी दुःख की बात तो यह है कि हम प्रमादवश अपने अतीत को भी वर्तमान के अनुकूल बनाकर देखने के अभ्यासी हो चले हैं जो निश्चय ही किसी भी दृष्टि से ठीक नहीं। निदान हमारा अनुरोध यह है कि हम तुलसीदास के अध्ययन में कुछ अधिक सतर्क, सावधान और सजग होकर लीन हों और किसी जनश्रुति वा कागद-पत्र की पक्की परख किए बिना उसको प्रमाण-कोटि में न लाएँ। हम जानते हैं, मानते हैं, और समय-समय पर जताते भी आ रहे हैं कि तुलसी को लेकर जहाँ-तहाँ, इधर-उधर कैसा जाल बन रहा है। हम कह नहीं सकते कि इसका अंत कब होगा। किंतु समझ सकते हैं कि इसके दिन अब अच्छे नहीं। इसकी खेती में लाभ नहीं। अतः इसमें निरत प्राणी कोई और धंधा ढूँढ निकालें तो कहीं अच्छा।

निष्कर्ष

उपसंहार

सौभाग्य की बात ठहरी कि हमारा कवि 'कराल कलिकाल नृपाल' को खूब समझता है और उसकी गति-विधि को भी खूब पहचानता है। फलतः इस कलिकाली चढ़ाई से भी अपनी दृढ़ रक्षा कर गया है। उसके अध्ययन से आप ही अवगत हो जाता है कि वस्तुतः उसकी स्थिति क्या है और किस युग में किस प्रकार उसका जीवन-यापन हो रहा है। किंतु दुःख, लज्जा और ग्लानि की बात तो यह है कि इधर कुछ मनमानी सामग्री के प्रकाश में आ जाने से कुछ ऐसे मनमाने लोग भी तुलसी-जीवन के विधाता बन बैठे जिन्हें यह कहने में रंचमात्र भी संकोच नहीं होता कि—

मैं सच कहता हूँ कि इससे पहले मैंने कभी तुलसीदास को पढ़ा तक न था।

उनके सत्य-कथन की हम उपेक्षा नहीं करते। उनकी सत्यनिष्ठा का आदर करते हुए हम आशा करते हैं कि भविष्य में हमारे देश में ऐसे सत्यवादी न होंगे जो इस प्रकार की अनधिकार चेष्टा को ही अपना अधिकार समझेंगे। तुलसी का अध्ययन किए बिना उनकी जीवनी में हाथ डालना ठीक नहीं। 'तुलसी-चरित' और 'सोरों-सामग्री' के तुलसी का उस तुलसी से लगाव क्या जिसको हम आप सभी जानते हैं? अतएव कहना हमारा यह है कि तुलसी के जीवन को तुलसी के प्रतिकूल बनाने का उद्योग छोड़कर अब कुछ उनका अध्ययन-मनन होना चाहिए और यह समझ रखना चाहिए कि तुलसी 'राजसमाज' वा शासकवर्ग को कभी प्रिय नहीं रहे। राम, अयोध्या और तुलसी की त्रयी शासक के लिए त्रिताप से कम नहीं रही। अकबर से लेकर मुहम्मदशाह तक 'अवध' पर जो अंकुश रहा उसका निर्देश

किया जा चुका है। मुहम्मदशाह की 'अवध' में टकसाल खुली तो उसके 'दाम' पर 'अवध' की छाप पर्याप्त न समझी गई। उसके साथ उसका मुगली नाम 'अखतरनगर' भी जोड़ दिया गया। परंतु आलमगीर की कड़ाई का फल उसकी संतान को भोगना पड़ा। मुगल काल-कलेवा बन गया। 'नवाब वजीर' भी पहले तो 'अयोध्या' को दबाने में तत्पर रहे पर बाद में हवा का रुख देख कर अयोध्या से हट गए। पहले फैजाबाद को आबाद किया और फिर लखनऊ में जा रहे। अँगरेजों के देखते-देखते अयोध्या की जो विभूति जगी उसने उनको सतर्क कर दिया और उन्होंने अपने ढंग से इस त्रयी का ह्रास किया। राम-कृपा अथवा अपने संकल्प के आधार पर हम स्वतंत्र हो कुछ करने-धरने की सोच रहे हैं। परंतु खेद होता है यह देखकर कि हमारे राजमार्ग में कोई विशेष परिवर्तन नहीं। हमारी आदत वही और अदब वही, बस नाम भर कुछ बदल गया है। तो भी जो हुआ है उसको दृष्टि में रखते हुए कहना पड़ता है कि अब कुछ होकर रहेगा। सरकार अपनी, पर क्या साहित्य भी अपना है? आशा है 'तुलसी की जीवन-भूमि' में आपको जो तत्त्व हाथ लगा होगा उससे आपका सत्त्व पुष्ट होगा और आप तुलसी के सहारे उनके उस चरित को भी भली भाँति आँक सकेंगे जिसका लक्ष्य है राम-चरित, कह लें राम-राज्य भी। 'राम-धाम' के विषय में अभी कहना ही क्या! अभी तो तुलसी की खोज कहीं और हो रही है न? परंतु उसके विषय में तुलसी का प्रमाण क्या? 'मुगल' मौन! अँगरेज मुखर!! अपना आप जानें। पर मानी तो 'मुखर' की ही जा रही है न? क्यों?

परिशिष्ट

I

[Extract from—
Memoirs of Zehir-ed-din Muhammed Baber, Emperor of Hindostan. Translated partly by the late John Leyden, Esqr., M. D. & Partly by William Erskine,' Esq. Published in 1826. Page 381.]

We were still a march or two from Oud, when a messenger arrived from Chin Taimur Sultan, with the intelligence that the enemy were encamped on the other side of the Sirwu, and that he would require to be reinforced. I despatched to his assisstance a thousand of the best men from the centre, under the command of Kizak. On Saturday, the 7th. of Rejeb, I encamped two or three kos aobve Oud, at the junction of the Gogar and Sirwu. Till that day, Sheikh Bayezid had kept his station, not far from Oud, on the other side of the Sirwu,

I halted some days in this station, for the purpose of settling the affairs of Oud and the neighbouring country, and for making the necessary arrangements. Seven or eight kos above Oud, on the banks of the river Sirwu, is the

well-known tract called the Hunting-ground. I sent Mir Muhammed Jaleban to examine the fords of the rivers Goger and Sirwu, which he did. On thursday, the 12th., I mounted, to set off on a hunting party.

(The remaining transactions of this year are not to be found, in any of the copies which I have met with : nor do the historians of Hindostan throw any light on them.)—Editor.

II

[Extracts from—

A selection from the Despatches, Treaties and other papers of the MARQUESS WELLESLEY, K. G., during his government of India. Edited by Sidney J. owen, M. A. (1877) Page—308.]

29. Connected with this object and with every principle of security bearing relation to it is the occupation of the whole tract of country forming the Doab between the Jumna and Ganges to the mountains of Kumaon. And similar considerations will require the occupation of Delhi and Agra and of a chain of posts on the western and southern bank of the Jumna from the mountains of Kumaon to Bundelcund sufficient to secure to the British power the

free navigation of the Jumna and the possession of both banks of that river. It is not my desire to extend the actual possessions of the Company beyond the line of the Jumna including Agra and Delhi, with a continued chain of posts to the westward and southward of the Jumna for the purpose already described.

Page—309.

35. It is extremely desirable that Bundelcund should ultimately be placed under the immediate authority of the British Government. Such an arrangement would afford great additional security to the rich province and city of Benares and would effectually, check whatever power might remain to the Rajah of Berar or to any other Mahratta chief in that quarter.

36. Reviewing these statements your Excellency will observe that the most prosperous issue of a war against Scindiah and the Rajah of Berar on the north-western frontier of Hindostan would in my judgment comprize,

1st. The destruction of the French state now formed on the banks of the Jumna together with all its military resources.

2ndly. The extension of the Company's frontier to the Jumna, with the possession of Agra, Delhi and a sufficient chain of posts on the western and southern banks of the Jumna.

3rdly. The possession of the nominal authority of the Moghul.

4thly. The establishment of an efficient system of alliance with all the petty states to the southward and westward of the Jumna from Jyenagur to Bundelcund.

5thly. The annexation of Bundelcund to the Company's dominions.

37. The result of such an arrangement would destroy the influence of the French and of the Mahrattas in the northern districts of Hindostan, and would enable us to commence the foundations of such an intercourse with the Seiks and with the tribes inhabiting the Punjab and the banks of the Attock, as might furnish sufficient means of frustrating any attempt of an invading enemy from the western side of the Indus.

(Page—318.)

6. His Excellency has, therefore, determined to enter into a negotiation with Himmat

Bahadur for his aid and influence in establishing in the province of Bundelcund an arrangement calculated to afford to the British Government the military and political advantages of the local situation of that province in the present crisis of affairs, and HIs Excellency has accordingly addressed a letter to that chieftain, stating, in general terms, His Excellency's views with respect to the province of Bundelcund, and requesting him to despatch to Allahabad a confidential agent for the express purpose of conferring with you on the details of the proposed arrangement. Copies of this letter, and of the detailed proposals which Himmat Bahadur has lately transmitted through Mr. Ahmuty, are enclosed for your information.

7. During the progress of the negotiation you will be enabled to ascertain more precisely than has hitherto been done, the means which Himmat Bahadur may possess of effectually supporting the interests of the British Government in the province, and will accordingly be enabled to submit to His Excellency the claims which he may possess to a recompence from the Government for his co-operation.

8. It appears from the former communication with Himmat Bahadur that his objects are the attainments of a Jaghire in the Company's provinces within the Dooab, and the release of his relation Omrao Geer, from confinement at Lucknow.

III

[Extract from Purnea Report—
Buchanan. An Account of the District of Purnea in 1809-10 by Francis Buchanan. Edited by V. H. Jackson. 1928. Page :—173.]

The work in the poetical Hindi language that is by far in greatest repute here is the Ramayân of Tulsidas, who is said to have been a Saraswat Brahman of Kasi. This work is unintelligible to by far the greater part of those who read it. Even pandits, who have not made it a peculiar study, cannot comprehend its meaning. This is said to be owing to the author's besides Sanskrit having introduced words from most of the more remarkable dialects spoken in India; just as if a man were to compose a poem in a mixture of Greek, French, English and German, which would be nearly unintelligible to many well educated

persons of each nation. Whether any other poets have taken a similar liberty I cannot say; but those who study the derivations of Indian dialects would require to be aware of the circumstance.

IV

[Extract from :—SELECT WORKS of H. H. WiLson, M. A., F. R. S., Late Boden Professor of Sanskrit in the University of Oxford. Vol. I.

London : Trubner & Co. 60, Paternoster Row. 1861.

A sketch of the religions of the Hindus : Section 3.* Page 63-64.]

The Account of TULSI DAS in the *Bhakta Mala* represents him as having been incited to the peculiar adoration of Rama by the remonstrances of his wife, to whom he was

---

*Section I.

Introductory Observations, pp. 8–9.

The works alluded to are in the Persian language, though both were written by Hindu authors, the first was compiled by Sital Sinh, Munshi to the RAJA of Benares, the second by Mathura Nath, late librarian of the Hindu College, at the same city, a man of great personal respectability and eminent acquirements : these works contain a short history of the

passionately attached : he adopted a vagrant life, visited Benares, and afterwards went to *Chitrakuta*, where he had a personal interview with *Hanuman*, from whom he received his poetical inspiration, and the power of working miracles : his fame reached *Dehli*, where SHAH JAHAN was emperor : the monarch sent for him to produce the person of Rama, which TULSI DAS refusing to do, the king threw him into confinement; the people of the vicinity, however, speedily petitioned for his liberation, as they were alarmed for their own security : myriads of monkeys having collected about the prison, and begun to demolish it,

---

origin of the various sects, and descriptions of the appearance, and observances, and present condition of their followers : they comprise all the known varieties, with one or two exceptions, and indeed, at no one place in India could the enquiry be so well prosecuted as at Benares. The work of Mathura Nath is the fullest and most satisfactory, though it leaves much to be desired, and much more than I have been able to supply. In addition to these sources of information, I have had frequent recourse to a work of great popularity and extensive circulation, which embodies the legendary history of all the most celebrated BHAKTAS or devotees of the Vaishnava order. This work is entitled the BHAKTA MALA.

and the adjacent buildings. SHAH JAHAN set the poet at liberty, and desired him to solicit some favour as a reparation for the indignity he had suffered : TULSI DAS, accordingly, requested him to quit ancient Delhi, which was the abode of Rama, and in compliance with his request the emperor left it, and founded the new city, thence named SHAH JEHANABAD. After this, TULSI DAS went to BRINDABAN, where he had an interview with NABHA JI : he settled there, and strenuously advocated the worship of SITA RAMA, in preference to that of RADHA KRISHNA.

Besides these legendary tales of this celebrated writer, whose works exercise more influence upon the great body of Hindu population than the whole voluminous series of Sanskrit composition, we have other notices of him collected from his own works, or preserved by tradition, that differ in some respects from tho above. From these it appears that TULSI DAS was a Brahman of the SARVARYA branch, and a native of HAJIPUR, near CHITRAKUTA; when arrived at maturity, he settled at BENARES, and held the

office of DEWAN to the RAJA of that city : his spiritual preceptor was JAGANNATH DAS, a pupil, as well as NABHAJI, of AGRA-DAS : he followed his teachcr to GOVAR-DHAN, near BRINDAVAN, but afterwards returned to Benares, and there commenced his Hindi version of the RAMAYAN, in the year of Samvat 1631, when he was thirty-one years of age. Besides this work, which is highly popular, TULSI DAS is the author of a SATSAI, or collection of one hundred stanzas on various subjects : of the RAM GUNAVALI, a series of verses in the praise of RAMA, of a GITAVALI, and VINAYAPATRIKA, poetical compositions of a devotional or moral tendency, and of a great variety of HYMNS—as RAGAS, kavits, and PADAS, in honour of his tutelary deity and his consort, or RAMA and SITA. TULSI DAS continued to reside at Benares, where he built a temple to SITARAMA, and founded a MATH adjoining, both of which are still in existence : he died in the year of the SAMVAT era, 1680, or A. D. 1624, in the reign of JEHANGIR, and the legendary stories of his intercourse with SHAH JEHAN, is consequently an anachronism.

V

[Extract from :—THE MODERN VERNACULAR LITERATURE OF HINDUSTAN

By George A. Grierson, B. A., B. C. S.

(Printed as a special number of the Journal of the Asiatic Society of Bengal, Part I, for 1888.)
Chepter VI. Tulsi Das. Pages 43–44.]

Tulsi Das was a SARBARIYA Brahman. He was born early in the sixteenth century and died at a good old age in 1624 A. D. As the old rhyme says:—

Sambata soraha sai asi, Asi Ganga ke tira,
Sawana sukala sattami, Tulasi tajeu sarira:
on the seventh of the light half of *Çravana*, *Tulsi* left his body at *asi*, on the bank of the Ganges.

According to the 'BHAKT SINDHU' and the 'BRIHAD RAMAYAN MAHATMYA' his father's name was ATMA RAM, his mother's name was *Hulasi*, and he was born at HASTINAPUR, but according to other authorities he was born at *Hajipur*, near CHITRAKUT. The usual tradition is, however, that RAJAPUR, in the district of BANDA, on the banks of the JAMUNA, has the honour of being his birth-

place. As a child he lived at SUKAR KHET (vulgo Soro) where he was first imbued with devotion to Ram. According to PRIYA DAS (see Nos. 51 and 319) his wife first persuaded him to exchange an earthly for a divine love, and, incited by her remonstrances, he left her and went to *Benares*, where he spent the greater part of his life, visiting frequently AJODHYA, MATHURA, BRINDABAN, KURUCHHETTR', PRAYAG (Allahabad), PURUKHOTTAMPURI, and other holy places. The only other fact in his life about which there is any reasonable certainty (beyond the dates of some of his works) is that he was appointed arbitrator in a land dispute between two men, ANAND RAM and KANHAY.

VI

[Extract from the District Gazetteers of the United Provinces. Vol. XLIII. Fyzabad. by H. R. Nevill. 1905. Page 172-3.]

(AJODHYA)

From the seventh century A. D. for a long period the place appears to have been almost deserted, though it rose again in importance

under the Musalmans, who made it the seat of government for a large province. That it was still regarded as a holy spot by the Hindus is clear from the fact of its desecration by Babar and Aurangzeb, but it would appear that the presence of Muhammadan governor and his court kept the Hindu shrines continually in the background. Ajodhya was a mint-town of Akbar and Muhammad Shah, some *dams* of the latter being inscribed "Akhtarnagar Awadh." It is not clear when Ajodhya first began to assume its present proportions: the change presumably occurred when the capital was removed to the new city of Fyzabad and the Qila Mubarak or fort of Saadat Khan near Lachhmanghat was adandoned for his country residence at the "Bangla". With the departure of the court the Hindus were left to themselves, and numerous temples and monasteries sprang into existence. Probably the rise in importance was in some degree due to the growing popularity of the Ramayan of Tulsi Das. The progress has been even more rapid since annexation, but before the middle of the nineteenth century Ajodhya was regarded as a great and even dangerous stronghold of Hinduism, as the con-

stant fights between the rival creeds and the alarm they occasioned in court circles bear witness. This development was not due to any particnlar person. The great family of Sakaldipi Brahmans, whose representative bears the recent title of Maharaja of Ajodhya, had but little to do with the place, and the fine palace of the Maharaja in the east of the city and its adjoining temples are of very recent origin.

VII

[District Gazetteer of the United Provinces. Vol. XXI. Banda. By D. L. Drake-Brockman. Published 1909. Page 178]

On September 6th., 1803, Colonel Powell, with a force of five battalions of native infantry and a suitable proportion of cavalry and artillery crossed the Jumna at Rajapur and marched to Karwi. As soon as the army reached the Paisuni, Himmat Bahadur marched from Kalinjar to meet it, while Shamsher Bahadur retired to the west bank of the Ken. The allied forces rapidly advanced, drove the Maratha Chief from the river side and completely defeated him at Kapsa, nine miles from

Banda, as he was trying to make his way towards Kalpi.

VIII

[Extract from the 'District Gazetteer of the United Provinces' Vol, XXI, Banda, (1909) pp. 285.]

It is said that in the reign of Akbar a holy man, named Tulsi Das, a resident of Soron in Kasganj *tahsil* of Etah District, came to the jungle on the banks of the Jumna, where Rajapur now stands, and devoted himsolf to prayer and meditation. His sanctity soon attracted followers, who settled round him, and as their number increased they began to devote themselves to commerce as well as religion. This is of course Tulsi Das, the author of the Ramayan, and his house is still shown in the town. It was a low kachcha building, but has recently been rebuilt and contains a shrine and an old, somewhat mutilated manuscript of the Ramayan. There is a small *muafi* attached to the shrine, but the present *muafidars* are ignorant and qnarrelsome and do nothing to further the spirit of religious purity and lofty ideals preached by the vener-

able poet. The shrine also contains a stone figure said to be an effigy of the poet, of celestial origin, and to have been found buried in the sand near Rajapur. Local tradition says that Tulsi Das became acquainted with Rajapur through his having married into a Brahman family in Mahewa, *Tahsil* Sirathu, district Allahabad. There are some peculiar customs in vogue at Rajapur, derived from the precept of Tulsi Das. No houses are allowed to be built of stone or masonry, even the richest live in mud houses : only temples are made of masonry. No barbers are ever allowed to settle within the town, and no dancing-girls, except of the caste of Beriahs, are allowed to live within it. Kumhars are also interdicted from residence, and all *gharas* and pots are brought in from outside. The rules, however are now so far relaxed as to be held to apply only to the precincts of Tulsi Das' house.

Tulsi Das was born in *Sambat* 1631 and died at Benares in 1680. The following verses give the date of the pote's death :—

Sambat Sorah sai assi Assi gang ke tir,
Sawan Shukla saptami, Tulsi taja sarir.

Sambat solah sai ektis-a,

Karon Katha Hari-pad dhar Sisa,

where *assi gang* is the name of the *ghat* at Benares at which he died.

IX

[Extract from—The Imperial Gazetteer of India Vol., XXI (1908)pp. 67-68.]

Rajapur Town (or Majhgawan) (2).—Town in the Mau *tahsil* of Banda District, United Provinces, situated in 25 23' N. and 81 9' E., on the bank of the Jumna, 18 miles north-east of Karwi. Population (1901), 5,491. Rajapur is the name of the town, and Majhgawan• that of the *Mauza* or village area within which it is situated. According to tradition the town was founded by Tulsi Das, the celebrated author of the vernacular version of the Ramayana, and his residence is still shown. He is said to have established several peculiar restrictions, which are scrupulously observed; no houses (except shrines) are built of stone, and potters, barbers and dancing girls are rigorously excluded. The only public buildings are the police station, post office, school and dispensary. Rajapur

was for a time the chief commercial centre of the District, owing to its position on the Jumna; but many of its merchants have migrated to Karwi, and the place is declining. Besides the export of country produce, there is a small manufacture of shoes and blankets. The school has 90 pupils.

X

Extract from—

Tulsidas's Ramayana–Ayodhyakand,
Printed from the Rajapur Manuscript.
Edited by Lala Sitarama B· A.
(Publishers, Kishore Brothers, 203
Muthiganj, Allahabad,)

Preface:—page ii]

Fifteen years ago, Sir George Grierson suggested to me that half tone blocks of each page of the book may be printed with a transcription below in type. In 1909 I applied to the Education Department to obtain Gavernment sanction for printing the Rajapur MS. by photozinco process. After some correspondence the matter was dropped. Five years ago on the recommendation of the Hon'ble Mr. Burn, C. S.

उद्धृत ग्रंथों का पता

१ अकबरी दरबार के हिंदी कवि—ले० डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल, प्र० लखनऊ विश्वविद्यालय, सं० २००७ वि० ।

२ अयोध्या का इतिहास—ले० श्री अवधवासी लाला सीताराम, प्र० हिंदुस्तानी एकेडमी, प्रयाग, सन् १९३२ ई० ।

३ अष्टछाप—सं० प्रो० कंठमणि शास्त्री, प्र० संचालक विद्या-विभाग, काँकरोली, द्वितीय संस्करण, २००६ वि० ।

४ अष्टछाप-परिचय—ले० प्रभुदयाल मीतल, प्र० अग्रवाल प्रेस, मथुरा, द्वि० सं०, सं० २००६ वि० ।

५ अयोध्याबिंदु—ले० देवस्वामी, प्र० न्यू मेडिकल हाल छापाखाना, दशाश्वमेध घाट, बनारस, सं० १९३३ ।

६ अमृत पत्रिका—४ अक्तूबर १९५३, इलाहाबाद ।

७ आधुनिक भारत—ले० डाक्टर ईश्वरीप्रसाद, प्र० इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, सन् १९४९ ई० ।

८ कल्याण—संक्षिप्त स्कंद पुराणांक, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

९ चौरासी वैष्णवन की वार्ता—सं० द्वारकादास परीख, प्र० अग्रवाल प्रेस, मथुरा, सं० २००५ वि० ।

१० जन-भारती—भाग १, बंगीय हिंदी परिषद्, १५ बंकिम चटर्जी स्ट्रीट, कलकत्ता १२, सन् १९३६ ई० ।

११ तारीख बनारस—जिल्द २, ले० मौलवी सैयद मजहर हसन, प्र० सुलेमानी प्रेस, बनारस, १९२६ ई० ।

१२ तुलसी—ले० रामबहोरी शुक्ल, प्र० हिंदी भवन (जालंधर और इलाहाबाद) ३१२, रानीमंडी, इलाहाबाद, द्वि० सं०, सन् १९५१ ई० ।

१३ तुलसी का घरबार—ले० श्री रामदत्त भारद्वाज, बंबई, सं० २००६ वि० ।

१४ तुलसी-ग्रंथावली, द्वितीय भाग—प्र० नागरीप्रचारिणी सभा, काशी ।

१५ **तुलसी-चरित**—ले० महादेव पांडे, प्र० श्री तुलसी पुस्तकालय, राजापुर, बांदा।

१६ **तुलसीदास**—ले० चंद्रबली पांडे, प्र० शक्ति कार्यालय, ७६३ दारागंज, प्रयाग, सं० २००५ ई०।

१७ **तुलसीदास**—ले० डा० माताप्रसाद गुप्त, प्र० हिंदी-परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, तृ० सं०, सन् १९५३ ई०।

१८ **तुलसीदास और उनकी कविता**—ले० रामनरेश त्रिपाठी, प्र० हिंदी मदिर, प्रयाग, सन् १९३७ ई०।

१९ **दरबार अकबरी**—ले० मुहम्मद हुसैन आजाद।

२० **नवीन भारत**, २४ दिसंबर १९५३, कासगंज, एटा।

२१ **नागर समुच्चय**—सं० पं० श्रीधर शिवलाल जी, ज्ञानसागर छापाखाना, मुंबई।

२२ **नंददास ग्रंथावली, पहला भाग**—सं० ब्रजरत्नदास, बी० ए० एल० एल० बी०, प्र० काशी नागरीप्रचारिणी सभा, सं० २००६ वि०।

२३ **पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ**—प्रधान संपादक, श्री वासुदेव शरण अग्रवाल, प्र० अखिल भारतीय ब्रज साहित्य मंडल, मथुरा।

२३ **बुंदेलखंड का संक्षिप्त इतिहास**—ले० गोरेलाल तिवारी, प्र० नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।

२४ **ब्रजनिधि-ग्रंथावली**—सं० पुरोहित हरिनारायण शर्मा, प्र० नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

२५ **भारत का इतिहास**—ले० डा० ईश्वरीप्रसाद, प्र० इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, सन् १९४९ ई०।

२६ **मध्यकालीन भारत का इतिहास**—ले० सत्यनारायण दुबे एम० ए०, श्रीराम मेहरा एंड कंपनी, आगरा।

२७ **माधुरी**— वर्ष १४, खंड २, संख्या ३।

२८ **मानस-पीयूष**—द्वितीय संस्करण, भाग १, अंक १-२, सं० अंजनीनंदन शरण, ऋणमोचन घाट, अयोध्या।

२९ **रामायण मानस परिचारिका, मानसप्रचारिका की भूमिका**—लें० श्री जानकीदास जी, प्र० नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, सं० १६४० वि०।

३० **रामचरितमानस**—सं० शंभुनारायण चौबे, प्र० नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, सं० २००५ वि०।

३१ **रामायण अयोध्याकांड**—सं० श्री अवधवासी भूप, उपनाम लाला सीताराम बी० ए०, प्र० किशोर ब्रदर्स, २०३ मुट्ठीगंज, इलाहाबाद।

३२ **रामायण तुलसीदास कृत, सटीक**—लें० श्री महंत रामचरण जी, प्र० नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, द्वि० सं०, सन् १८८८ ई०।

३३ **विनय पत्रिका (सटीक)**—सं० वियोगी हरि, प्र० साहित्य-सेवा-सदन, काशी, सं० २००५ वि०, पंचम संस्करण।

३४ **बिहार दर्पण**—लें० श्री गदाधरप्रसाद अंबष्ठ विद्यालंकार, प्र० ग्रंथमाला कार्यालय, बांकीपुर, पटना, सं० १६६६ वि०।

३५ **वीणा**—वैशाख १९९५ वि०, मई सन् १९३८ ई०, श्री मध्यभारत हिंदी-साहित्य-समिति, इंदौर।

३६ **वीर मित्रोदय (श्री मित्र मिश्र विरचित)**—सं० पं० विष्णु प्रसाद, चौखंभा संस्कृत सीरीज, बनारस, सन् १६१७ ई०।

३७ **शिवराज भूषण**।

३८ **शिवसिंह सरोज**—लें० शिवसिंह सेंगर, प्र० मुंशी नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ।

३९ **श्री गोस्वामी तुलसीदास जी का जीवनचरित्र**—लें० बाबू शिव-नंदन सहाय, प्र० बिहार स्टोर, आरा, सन् १६१६ ई०।

४० **श्री तुलसीदास गोस्वामी कृत सप्तकांड रामायण ग्रंथ**—प्र० तिलक राम नाथराम भगत, पंचाननतला, कलकत्ता, सं० १८६६ वि०।

४१ श्री स्वामी गोसांई तुलसीदास जू को चरित्र—ले० भवानीदास, प्र० रामदीनसिंह [रामचरितमानस] खड्गविलास प्रेस, सन् १८८६।

४२ श्री भक्तमाल : भक्तसुधास्वाद तिलक—ले० श्री सीतारामशरण भगवानप्रसाद 'रूपकला', प्र० तेजकुमार प्रेस बुकडिपो, लखनऊ, सन् १६५१ ई०।

४३ श्री भक्तमाला : रामरसिकावली—ले० महाराज रघुराजसिंह जू देव, प्र० खेमराज श्रीकृष्णदास, बंबई, चतुर्थ संस्करण, सं० १६३१ वि०।

४४ श्री महाराज-चरित्र—ले० स्वामी श्री रघुनाथप्रसादाचार्य जी, प्र० बड़ा स्थान, अयोध्या, सं० १९८७ वि०।

४५ श्री मानस अभिप्राय दीपक सटीक—ले० महात्मा श्री जानकी शरण जी (स्नेहलता), हनुमन्निवास, अयोध्या (प्र० श्रीमती व्रजराज कुमारी) सं० २००३ वि०, प्राप्तिस्थान बाबू जोगेश्वरनाथ, महल्ला मध्यमेश्वर, बनारस।

४६ श्री महेश्वररोगराज चिकित्सा—ले० ठाकुर महेश्वरबख्श सिंह जू देव, मु० डायमंड जुबली यंत्रालय, कानपुर, सं० १९५७ वि०।

४७ श्री महेश्वर रसमौर ग्रंथ—ले० रायकवि दौलतराम जी, मुद्रक लखनऊ प्रिंटिंग प्रेस, लखनऊ, १८६८ ई०।

४८ संत कबीर—ले० रामकुमार वर्मा, प्र० साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, सन् १९४७ ई०।

४९ सूरसागर—सं० श्री नंददुलारे वाजपेयी, प्र० नागरीप्रचारिणी सभा काशी, सं० २००७ वि०।

50 A Selection from the despatches, treaties & other papers of the Marquess Wellesley, K. G., during his Government of India. Edited by Sidney J. Owen. 1877.

51 A Historical Sketch of Fyzabad Tehsil, in-

cluding the former capitals Ajudhia & Fyzabad, by P. Carnegy, C. S. Published 1896.

52 District Gazetteers of The United Provinces, Vol. XXI, Banda, 1909.

53 District Gazetteer of the United Provinces, Vol. XLIII, Fyzabad, 1905.

54 Tulsidas's Ramayan-Ayodhyakand, printed from the Rajapur manuscript. Edited by Lala Sitaram B. A. Publishers Kishore Bros., 203 Mutthiganj, Allahabad.

55 The Imperial Gazetteerof India, Vol. XXI, 1908.

56 The Modern Vernacular Literature of Hindostan, by George A. Grierson, printed as a special number of the Journal of the Asiatic Society of Bengal, Part I for 1888.

57 Purnea Report : an account of the District of Purnea in 1809-10, by Francis Buchanan. Edited by V. H. Jackson, 1928.

58 Memoirs of Zehiruddin Muhammad Baber, Emperor of Hindustan. Translated partly by the late John Leyden Esqr., M. D. and partly by William Erskine, published in 1826.

अनुक्रमणिका

[पुस्तक]

अनुक्रमणिका

[व्यक्ति और स्थान]

अ

भ